

# तुलसी प्रज्ञा

Jain Vishva-bharati Institute Research Journal

अनुसंधान-त्रैमासिकी

पूर्णाङ्क-१२



Jain Vishva-bharati Institute, Ladnun-341306

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६  
( मान्य विश्वविद्यालय )

तुलसी प्रज्ञा  
TULSI PRAJNA  
पूर्णार्द्ध-९२

अमुसंधान-त्रैमासिकी  
Research Quarterly

**JAIN VISHVA-BHARATI INSTITUTE RESEARCH JOURNAL**

---

Jain Vishva-bharati Institute, (Deemed University),  
Ladnun—341 306 (Raj.) INDIA

मूल्य : बास रुपये

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers. It is not necessary that the institute agree with them.

Editorial enquiries may be addressed to : The Editor, Tulsi Prajñā, JVBI Research Journal, Ladnun-341 306.

---

Published by Parmeshwar Solanki for Jain Vishva-bharati Institute, Deemed University, Ladnun-341 306 and printed by him at Jain Vishva-bharati Press, Ladnun—341 306. Published on 31.3.95

Editor

**Dr. Parmeshwar Solanki**

## अनुक्रमणिका/Contents

१. स्थानांग-आगम निर्मला चौरङ्गिया	२६१
२. भक्ति और आराध्य का स्वरूप समणी प्रसन्नप्रज्ञा	२६५
३. महाकवि महाप्रज्ञ का जीवन दर्शन हरिशंकर पाण्डेय	२७३
४. जैन दर्शन में लेश्या-एक विवेचन प्रद्युम्नशाह सिंह	२८९
५. अनेकान्तवाद व नयवाद का दार्शनिक स्वरूप अनिलकुमार धर	२९९
६. आचार्य महाप्रज्ञ के चिंतन में 'ईश्वर' आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	३०९
७. 'सबोध' में प्रयुक्त छन्द समणी स्थितप्रज्ञा	३१७
८. ऋग्वेद की मन्त्र-संख्या परमेश्वर सोलंकी	३२७
९. गांधीजी की शिक्षा में मूल्यपरक तत्त्व कुमुद सिन्हा	३३५
१०. प्रकीर्णकम् (१) नागौर-इतिहास के झरोखे से (२) तेरापंथ शब्द-वैज्ञानिक अध्ययन (३) महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान में उपलब्ध सूक्तियां (४) तुलसी स्तोत्रम्-एक परिचय	३४३
<b>English Section</b>	
11. Violence & Non-violence — Parmeshwar Solanki	103
12. Some Guide Lines for Happy, Meaningful and Successful Life found in the Uttarādyaṇa Sūtra — B. K. Khadabadi	107
13. Man and Environment — Suresh Jain & Ms. Chitralkha Jain	111
14. Ancient Indian Polity as depicted in Jain Canonical Literature — Nagendra Kr. Singh	117
15. Jayānanda : The Kashmirian Tibetologist — Narendra Kumar Dash	123
16. Perils of Indian Education System — Anil Dutta Mishra	131
17. Origin of Untouchability (II) — Upendranath Roy	135
18. Tolstoy & Gandhi — Tatiana Blagova	143
19. Foundation of Gandhian Religious Thought — Miss Himanshu Bourai	151

## लेखक

## Contributors

१. निर्मला चोरड़िया— शोध छात्रा, जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं
२. समणी प्रसन्नप्रज्ञा—
३. डॉ० हरिशंकर पांडेय— व्याख्याता, प्राकृत-साहित्य विभाग  
जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
४. श्री प्रद्युम्नशाह सिंह— शोधछात्र, जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
५. श्री अनिल कुमार धर— शोधछात्र
६. डॉ० आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'— व्याख्याता जैन विद्या विभाग  
जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
७. समणी स्थितप्रज्ञा— व्याख्याता, जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान,  
जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
८. डॉ० परमेश्वर सोलंकी— संपादक, तुलसी प्रज्ञा  
जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
९. डॉ० कुमुद सिन्हा— राज्य कन्या उच्च विद्यालय, आरा (बिहार)
१०. श्री फणिलाल चक्रवर्ती— पूर्व निदेशक, पुरातत्व एवं संग्रहालय  
राजस्थान, जयपुर
११. डॉ० जयचन्द्र शर्मा— निदेशक, संगीत भारती महाविद्यालय  
रानी बाजार, बीकानेर
१२. समणी सत्यप्रज्ञा— व्याख्याता, अहिंसा और शांति शोध  
जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
13. Dr. B. K. Khadabadi— 'Aradhana' Sankeshwar-591313
14. Dr. Suresh Jain— Regional College of Education, Ajmer
15. Ms. Chitrlekha Jain— Shri Gurunanak Girls School, Ajmer
16. Dr. Nagendra Kr. Singh— 72, Kurmanchal Niketan 115, Patpar Ganj Delhi—92
17. Dr. Narendra kumar Dash— Deptt. of Indio-Tibetan studies  
Vishva-bharati University,  
Shanti Niketan—731235
18. Dr. Anil dutta Mishra— Jain Vishva-bharati Institute  
Deemed University, Ladnun
19. Prof. Upendranath Roy— Matelli (W. Bengal)—735223
20. Dr. Ms. Tatiana Blagova— Associate Professor, Russian State  
University, Moscow—101000, Uleusky  
Street, Build. 14. Apart 78
21. Miss Himanshu Bourai— H. N B. Garhwal University  
Srinagar (U.P.)

## स्थानांग-आगम (संख्या के अनुपात से द्रव्यों का विवेचन)

□ निर्मला चोरड़िया

जैन द्वादशांगी में तीसरा आगम स्थानांग है। “स्थानांग” पद ‘स्थान’ और ‘अंग’ इन दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है। ‘स्थान’ शब्द अनेकार्थी है। आचार्य देववाचक<sup>१</sup> ने और गुणधर<sup>२</sup> ने लिखा है कि प्रस्तुत आगम में एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव और पुद्गल के विविध भाव वर्णित हैं, इसलिए इसका नाम ‘स्थान’ रखा गया है। जिनदासगणि महत्तर ने लिखा है—जिसका स्वरूप स्थापित किया जाय व ज्ञापित किया जाये वह ‘स्थान’ है।<sup>३</sup> आचार्य हरिभद्र<sup>४</sup> ने कहा है—जिसमें जीवादि का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है, वह स्थान है।

प्रस्तुत आगम में तत्त्वों के एक से लेकर दस तक संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख है, अतः इसे ‘स्थान’ कहा गया है। ‘स्थान’ शब्द का दूसरा अर्थ ‘उपयुक्त’ भी है। इसमें तत्त्वों का क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है। स्थान ‘शब्द’ का तृतीय अर्थ ‘विश्रान्ति स्थल’ भी है और अंग का सामान्य अर्थ ‘विभाग’ है। इसमें संख्याक्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना की गई है। अतः इसका नाम स्थानांग है।

आचार्य गुणधर<sup>५</sup> ने स्थानांग का परिचय देते हुए लिखा है कि स्थानांग में संग्रहनय की दृष्टि से जीव की एकता का निरूपण है तो व्यवहारनय की दृष्टि से उसकी भिन्नता का भी प्रतिपादन किया गया है। संग्रहनय की अपेक्षा चैतन्य गुण की दृष्टि से जीव एक है। व्यवहार नय की दृष्टि से प्रत्येक जीव अलग-अलग है। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से वह दो भागों में विभक्त है। इस तरह स्थानांग सूत्र में संख्या की दृष्टि से जीव अजीव प्रभृति द्रव्यों की स्थापना की गई है। पर्याय की दृष्टि से एक तत्त्व अनन्त भागों में विभक्त होता है और द्रव्य की दृष्टि से वे अनन्त भाग एक तत्त्व में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार भेद और अभेद की दृष्टि से व्याख्या स्थानांग में है।

स्थानांग में विषय को प्रधानता न देकर संख्या को प्रधानता दी गई है। संख्या के आधार पर त्रिषय का संकलन-आकलन किया गया है। एक विषय की दूसरे विषय के साथ, इसमें सम्बन्ध की अन्वेषणा नहीं की जा सकती। जीव, पुद्गल, इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, दर्शन, आचार, मनोविज्ञान आदि शताधिक विषय बिना किसी क्रम के इसमें संकलित किये गए हैं। प्रत्येक विषय पर विस्तार से चिन्तन न कर संख्या

की दृष्टि से आकलन किया गया है। यह एक प्रकार से कोश की शैली में ग्रथित आगम है, जो स्मरण करने की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी है।

जैन आगम साहित्य में तीन प्रकार के स्थविर बताए गए हैं। उनमें श्रुत स्थविर के लिए 'ठाण-समवायधरे' यह विशेषण आया है। इस विशेषण से यह स्पष्ट है कि इस आगम का कितना अधिक महत्त्व रहा है।<sup>१</sup> आचार्य अभयदेव ने स्थानांग की वाचना कब होनी चाहिए? इस संबन्ध में लिखा है कि दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से आठवें वर्ष में स्थानांग की वाचना देनी चाहिए। यदि आठवें वर्ष से पहले कोई वाचना देता है तो उसे आज्ञा भंग आदि दोष लगते हैं।<sup>२</sup> व्यवहार सूत्र के अनुसार स्थानांग और समवायांग के ज्ञाता को ही आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देने का विधान है। इससे भी अंग का महत्त्व स्पष्ट है।<sup>३</sup>

समवायांग और नन्दीसूत्र में स्थानांग का परिचय दिया गया है। समवायांग के अनुसार स्थानांग की विषयसूची इस प्रकार है— (१) स्व सिद्धांत, पर सिद्धांत और स्व-पर सिद्धांत (२) जीव, अजीव और जीवाजीव का कथन (३) लोक, अलोक और लोकालोक का कथन (४) द्रव्य के गुण और विभिन्न क्षेत्रकालवर्ती पर्यायों पर चिन्तन (५) पर्वत, पानी, समुद्र, देव, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार, स्वरूप, गोत्र, नदियों, निधियों और ज्योतिष्क देवों की विविध गतियों का वर्णन और (६) एक प्रकार, दो प्रकार, यावत् दस प्रकार के लोक में रहनेवाले जीवों और पुद्गलों का निरूपण।

नन्दी सूत्र में स्थानांग की विषयसूची प्रारम्भ में तीन नम्बर तक समवायांग की तरह किंतु व्युत्क्रम से है। चतुर्थ और पांचवें नम्बर की सूची बहुत ही संक्षेप में है। जैसे-टड्ड, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, गुफा, आकर, डह और सरिताओं का कथन। छठे नम्बर में नन्दी सूत्र के अनुकूल है।

समवायांग<sup>४</sup> व नन्दीसूत्र<sup>५</sup> के अनुसार स्थानांग की वाचनाएं संख्येय हैं, उसमें संख्यात श्लोक हैं, संख्यात संग्रहणियां हैं। उसमें एक श्रुतस्कन्ध है, दस अध्ययन हैं। इक्कीस उद्देशकाल हैं। बहत्तर हजार पद हैं। संख्यात १५ अक्षर हैं यावत् जितप्रज्ञन्त पदार्थों का वर्णन है। इस आगम में दश अध्ययनों का एक ही श्रुतस्कन्ध है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययन के चार-चार उद्देशक हैं। पंचम अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। शेष छह अध्ययनों में एक-एक उद्देशक है। कुल इक्कीस उद्देशक हैं। स्थानांग की पद संख्या बहत्तर हजार कही गई है किन्तु वर्तमान में बहत्तर हजार पद नहीं मिलते हैं। आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानांग की सटीक प्रति में सात सौ तिरासी (७८३) सूत्र हैं और पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

स्थानांग सूत्र में चारों ही अनुयोगों का समावेश है। मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने लिखा है कि स्थानांग में द्रव्यानुयोग की दृष्टि से ४२६ सूत्र, चरणानुयोग की दृष्टि से २१४ सूत्र गणितानुयोग की दृष्टि से १०८ सूत्र और धर्मकथानुयोग की दृष्टि से ५१ सूत्र हैं। उनमें कितने ही सूत्रों में एक-दूसरे अनुयोग संबद्ध हैं। अतः अनुयोग वर्गीकरण की दृष्टि से सूत्रों की संख्या में १७ सूत्रों की अभिवृद्धि हुई है।

अनुयोगद्वार में (सू० ६०५) में तीन प्रकार की वक्तव्यता बतलाई गई है—(१) स्वसमय वक्तव्यता—जैन दृष्टिकोण का प्रतिपादन । (२) परसमयवक्तव्यता—जैनेतर दृष्टिकोण का प्रतिपादन । (३) स्वसमय-परसमयवक्तव्यता—जैन और जैनेतर दोनों दृष्टिकोणों का एक साथ प्रतिपादन । नंदी सूत्रगत स्थानांग के विवरण भी में बतलाया गया है<sup>११</sup>—स्थानांग में स्वसमय की स्थापना, परसमय की स्थापना और स्वसमय-परसमय की स्थापना की जाती है । इसके आधार पर जाना जा सकता है कि स्थानांग में तीनों प्रकार की वक्तव्यताएं हैं ।

संख्या के अनुपात से एक द्रव्य के अनेक विकल्प करना—इस आगम की रचना का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है । उदाहरणतः प्रत्येक शरीर की दृष्टि से जीव एक है ।<sup>१२</sup> संसारी और मुक्त—इस अपेक्षा से जीव दो प्रकार के हैं ।<sup>१३</sup> उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिपदी से युक्त जीव त्रिगुणात्मक है । गति चतुष्टय में संचरणशील होने से चार प्रकार का । इसी प्रकार क्रमशः पांच, छह यावत् दस विकल्पों वाला जीव बताया है । संख्या के आधार पर ही इसमें विषय संकलित है, इस दृष्टि से भी यह आगम विषय ज्ञान के अनगिनत पहलुओं का स्पर्श करता है ।

### संदर्भ :—

१. नंदी सूत्र, सू० ८२ : ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए उड्डीए दसट्टाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जति ।
२. कसायपाहुड, भाग-१, पृ० १२३ : ठाणं नाम जीवपुद्गलादीणामेगादि एगुत्तर-कमेण ठाणाणि वण्णेदि ।
३. नंदी सूत्र चूर्णि पृ० ६४ : 'ठाविज्जंति' त्ति स्वरूपतः स्थाप्यंते प्रज्ञाप्यन्त इत्यर्थः ।
४. नंदी सू० हरिभद्रीयावृत्ति पृ० ७२ : तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानम्...स्थानेन स्थाने वा जीवाः स्थाप्यन्ते, व्यवस्थित स्वरूपप्रतिपादनयेति हृदयम् ।
५. कसायपाहुड, भाग १, पृ० ११३।६४,६५ : एवको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिओ । चतुसंकमणाजुत्तो पंचगुणप्पहाणो य छक्कायक्कमणजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगिसम्भावो । अट्टासवो णवट्ठो जीवो दसट्टाणियो भणिओ ।
६. व्यवहारसुत्त, सूत्र १, पृ० १७५, मुनि कन्हैयालाल कमल ।
७. ठाणं-समवाओऽवि य अंगे ते अट्टवासस्स अन्यथा दानेऽस्या ज्ञानभंगादयो दोषाः स्थानांग टीका ।
८. ठाण समवायधरे कप्पइ आयरित्ताए उवज्जायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए व्यवहार सूत्र, उ० ३, सूत्र ६८
९. समवायांग सूत्र १३८, पृ० १२३, मुनि कन्हैयालाल ।



१०. नन्दी ८७, पृ० ३ — पुण्यविजयजी म०

११. नन्दी सूत्र ८३ : ससमए ठाविज्जई, परसमए ठाविज्जई, ससमय-परसमए ठाविज्जई ।

१२. ठाणं १:१७ : एगे जीवे पाडिक्कएणं सरीरएणं ।

१३. ठाणं २:४०८ : दुविहा सव्व जीवा पणत्ता, तं जहा—सिद्धा चेव, असिद्धा चेव ।

## भक्ति और आराध्य का स्वरूप

समणी प्रसन्न प्रज्ञा

जो आराधना करने योग्य हो वह आराध्य कहलाता है। हर व्यक्ति का अपना-अपना आराध्य होता है। भगवान्, तीर्थंकर, उत्तमपुरुष, गुरु, माता-पिता कोई भी आराध्य हो सकता है लेकिन वह समर्थ, राग-द्वेषजेता, मृत्युञ्जयी एवं षड्विधभग (ऐश्वर्य) सम्पन्न होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जिसके प्रति हृदय में उत्कृष्ट श्रद्धा के भाव पैदा हो वह आराध्य होता है। आराध्य की आराधना, पूजा और भक्ति, भक्त के लिए सब कुछ है।

भक्ति, भक्त और भगवान्—ये शब्द बहुत ही विशाल अर्थ रखने वाले एवं गूढार्थ संगोपित हैं। भक्ति शब्द की सिद्धि दो प्रकार से होती है। भज्-सेवायाम् धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय करने पर सेवा, उपासना, गुरुकथन आदि अर्थों में भक्ति पद की सिद्धि होती है—

“भज इत्येष वे धातु सेवायां परिकीर्तितः।

तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिसाधना भूयसी ॥”

भञ्जो-आमर्दने धातु से भी बाहुलकात् करण में क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। आमर्दन का अर्थ है—तोड़ देना, मर्दन कर देना, काट देना अर्थात् विलीन कर देना। तात्पर्यार्थ प्रभु, उपास्य किंवा तीर्थंकर पाद की सेवा, उनके गुणों का कीर्तन उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति है जिससे कर्मों एवं पापों का उच्छेद होता है।

भक्ति की परिभाषा करते हुए भक्त शिरोमणि नारद कहते हैं—“तद-पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।” इसी प्रकार उन्होंने भक्ति को अनिर्वचनीय बतलाते हुए कहा—“अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपम्। मुकास्वादनवत्।”

जो कर्मबन्धनों को काट दे, दुःखों का विनाश कर दे, आत्ममलों का प्रक्षालन कर दे वह भक्ति है। इसलिए इसे ‘आत्मरजस्तमोपहा’ एवं ‘भवरोगहन्त्री’ कहा गया है।

भक्ति असीम का अनुभव है। असीम में अपना विलय कर देना, तादात्म्य कर लेना ही भक्ति है। जैसा कि हनुमान ने अपने आराध्य राम में अपने आपको विलीन कर दिया था। राम के सिवाय उनकी कोई अभीप्सा शेष नहीं रही थी।

रामायण का प्रसंग है। लंका विजय के बाद विजयोत्सव मनाया जा रहा था। भगवान् राम ने हर व्यक्ति को उपहार प्रेषित किया लेकिन हनुमान को कुछ भी नहीं

दिया। माता सीता इस दृश्य को देख रही थी। उन्होंने हनुमान को बुलाया और अपना नवलखा हार उसे प्रदान कर दिया। हनुमान ने हार को ले लिया। एक-एक मनके को दांतों से तोड़ता, देखता और फेंक देता। जब सीता ने यह दृश्य देखा तो पूछ लिया—अरे ! यह क्या कर रहे हो ?

हनुमान ने कहा—माताजी ! देख रहा हूँ इनमें राम का नाम है या नहीं। जिसमें राम का नाम नहीं वह मेरे क्या काम का ?

अर्थात् भक्त वह होता है जो हर समय, हर स्थान पर अपने आराध्य को साक्षात् करना चाहता है। उसके लिए सम्पूर्ण सृष्टि ही प्रभुमय बन जाती है। इसीलिए किसी ने कहा है—“वे धन्य हैं जो दृढ़ श्रद्धालु हैं।”

भक्ति सर्वोच्च शक्ति है, भक्ति सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। भक्ति वही कर सकता है जो सौभाग्ययुक्त होता है। भक्ति आत्मविलय का नाम है, सम्पूर्ण समर्पण का अपर अभिधान है। क्योंकि वहां पर द्वैत सर्वथा समाप्त हो जाता है। कबीरदासजी के शब्दों में—

“जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि तब मैं नांही।

प्रेम गली अति सांकरि, तामे दो न समाही ॥

इसी प्रकार—

“सीस उतार मुंह धरे, तापर राखे पांव।

दास कबीरा यों कहे, ऐसा होय तो आव ॥”

जैनाचार्यों ने भी भक्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला है। रत्नत्रय में परिगणित सम्यग्दर्शन भक्ति किंवा श्रद्धा का ही शब्दांतर मात्र है।

ज्ञान और भक्ति के बारे में यदि अध्ययन करें तो ज्ञान छोटा पड़ जाता है, भक्ति उससे बहुत विस्तृत है। भक्ति में अटूट विश्वास रखने वालों ने तो यहां तक कह दिया कि ‘जब बुद्धि की सीमाओं का अन्त होता है तब भक्ति अर्थात् श्रद्धा की सीमा का प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि कोरा ज्ञानी व्यक्ति, केवल बौद्धिक व्यक्ति, विद्वान् तो हो सकता है पर भक्त नहीं।’

ज्ञान में अहं सम्भव है जो पतन का कारण होता है पर भक्ति अहं-विसर्जन का ही नाम है। भक्ति में अपना कुछ होता ही नहीं, फिर अहं किस बात का ?

भक्ति में किसी समर्थ का सामर्थ्य भी जुड़ सकता है पर ज्ञान में ऐसा कुछ नहीं होता।

भक्ति, श्रद्धा या दृढ़ास्था ही वह सशक्त मार्ग है जो पतित से पतित का उत्थान कर देती है। बुरे से बुरे को भी श्रेष्ठ बना देती है। देव, दानव व मानवकृत हर उपद्रव में सुरक्षा देने वाला अमोघ मंत्र बन जाती है—भक्ति। तभी तो आचार्य मान-तुंग कहते हैं—‘त्वद्भक्तिरेवमुखरीकुहते बलान्माम्’।<sup>१</sup>

इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि भक्ति के प्रभाव से किस प्रकार असंभव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। चन्दनबाला, जयदेव, अण्डाल, तुकाराम, एकनाथ आदि प्रभु भक्ति की नाव पर बैठकर संसार-सागर के उस पार चले गए। भक्त प्रह्लाद ने

भक्ति की शक्ति से पिताकृत हर कष्ट का सामना कर अमरत्व को पा लिया। भक्त शिरोमणि मीरां भक्ति के आसन पर बैठकर विष-पान करके भी अमर हो गयी।

आचार्य मानतुंग, जिन्होंने भक्तिरस की तीक्ष्ण छैनी से चारों ओर लटकने वाले बड़े-बड़े तालों को खड़ाखड़ तोड़ डाला ! शोभजी श्रावक जो आचार्य भिक्षु के प्रति अटूट श्रद्धावान् थे, ने बन्दी अवस्था में जब अपने आराध्य को पुकारा तो खूबलाएं स्वतः खुलकर दूर जा गिरी। यह सब क्या है ? एकमात्र भक्ति की शक्ति ही तो है।

वर्तमान में भी यदि कोई साक्षात् भक्त का स्वरूप देखना चाहे तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अवश्य दर्शन करे। इतने बड़े तेरापन्थ धर्मसंघ के सर्वोच्च पद पर आसीन होते हुए भी जब अपने गुरु चरणों में बैठते हैं तो उनका कण-कण भक्तिमयता से आप्लावित हो जाता है और दर्शक देख-देख कर गद्गद् हो जाते हैं।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी जब अपने आराध्य की स्तवना में प्रातः चार बजे से ही तान छेड़ती हैं तो उनकी सन्निधि प्राप्त लोग उन्हीं में मीरां के स्वरूप का दर्शन करते हैं और उनकी लय में लय मिलाकर भक्ति रूप गंगोत्री में अभिस्नात् हो जाते हैं।

आज सबसे बड़ी समस्या है सच्चे आराध्य की प्राप्ति। जब तक सम्यक् रूप से आराध्य का साक्षात् नहीं होता तब तक वांछित फल की प्राप्ति भी नहीं होती है। इसलिए यह विचार्य हो जाता है कि हमारा आराध्य या प्रभु कैसा हो ? जिसके सहारे हम स्व स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं, भवसागर तर सकते हैं। हमारा आराध्य, इतना समर्थ हो कि उसके प्रति हमारी आस्था कभी डगमगाए नहीं। दूसरी तरफ हमारी आस्था इतनी दृढ़ हो कि आराध्य में हमें सन्देह या शंका रहे ही नहीं। हमारे आराध्य में कुछ निर्दिष्ट मौलिक विशेषताएं भी अवश्य होनी चाहिए जिसका उपासक बन हमारा मानस सच्ची प्रसन्नता व शाश्वत सुख को प्राप्त कर सके। जिसकी आराधना हमें भी उसी के तुल्य बना देने का सामर्थ्य रखती हो। जो सचमुच पारसमणि की भांति लोहे को भी सोना बना सके, चुंबक की भांति स्वतः अपनी तरफ आकर्षित कर सके।

भक्ति मोक्ष का मार्ग है। सच्ची भक्ति के लिए सच्चे आराध्य की प्राप्ति जरूरी है। बिना सच्चे आराध्य की प्राप्ति के सच्ची भक्ति नहीं होगी और बिना सच्ची भक्ति के मुक्ति भी नहीं और न सही जीवन का निर्माण होगा।

अपने-अपने आराध्य का अपना-अपना स्वरूप होता है पर आज की अन्धाधुन्ध दौड़ में दौड़ने वाले लोगों को धामने के लिए और आगे आने वाली खाई में गिरने से बचाने के लिए एक दिशा निर्देश अपेक्षित है कि उनका आराध्य कैसा हो ? उनके स्तुत्य का स्वरूप कैसा हो ?

जैनग्रन्थों के आधार पर आराध्य में निम्न गुण होने चाहिए जैसे - वीतरागता, वराग्यशीलता, मुक्तिप्रदाता, शरणागतरक्षक, उपदेष्टा, शारीरिक सौंदर्य देवऋद्धि-

सम्पन्नता, जगन्नाथ, मनोकामनापूरक, विघ्नहर्ता आदि-आदि ।

## वीतरागता

राग-द्वेष रहित वीतरागता का धारक आराध्य भक्तों का सच्चा सहायक बन सकता है । भक्त हृदय में अपने आपको स्थापित या अवस्थित कर सकता है । 'कल्याणमंदिर' में आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—'त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि'<sup>४४</sup> । यहां यहां तमस का अर्थ राग-द्वेष से लिया गया है और इसीलिए आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो ! अन्य दर्शनी लोगों की दृष्टि में भी केवल आप ही वीतराग हैं ।

आचार्य अमितगति ने भी 'परमात्मद्वान्त्रिशिका' में अपने आराध्य का स्वरूप जताते हुए कहा है—

'रागादयोः यस्य न सन्ति दोषाः'<sup>४५</sup> अर्थात् जिसमें राग-द्वेष आदि रूप दोष न हो वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान् हों ।

तेरापन्थ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य भी 'चौबीसी' में यही प्रकट करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । देखिए, उनका आराध्य किस प्रकार वीतरागता को प्राप्त है—

'अहो ! वीतराग प्रभु तू सही ।'<sup>४६</sup>

'उभय बंधन आप आखिया, रागद्वेष विकराल हो ।'<sup>४७</sup>

भगवान् सुविधिनाथ की स्तुति में वे कहते हैं—

'मधुकर मरंद तणी परै, सुरनर करत सलामी हो ।

तो पिण राग व्यापै नहीं, जीत्यो मोह हरामी हो ॥'<sup>४८</sup>

अर्थात् उनके भगवान् सुविधिनाथ ने तो इस प्रकार मोह (रागद्वेष) को जीत लिया है कि देवता लोग इस रूप में झुक कर वन्दना करते जैसे कमल पराग पर मधुकर झुकता है । फिर भी उनके दिल में रागभाव नहीं उपजता है ।

हालांकि राग-द्वेष दोनों दुर्दमनीय है फिर भी उनके आराध्य ने उन्हें जीत लिया है —'राग-द्वेष दुर्दंत तैं दमिया ।'<sup>४९</sup>

'चतुर्विंशति गुण-गेय-गीति' में गणाधिपति पूज्य गुरुदेव भी कहते हैं—'रागद्वेष विशेष विरहित'<sup>५०</sup> । हे प्रभो ! आप विशेष रूप से राग-द्वेष रहित हैं ।

## वैराग्यवान्

जो विराग को धारण करने वाले होते हैं वे वैराग्यवान कहलाते हैं । जैनदर्शन का चरम लक्ष्य है मुक्ति और उसकी ओर अग्रसर होने का साधन है—वैराग्य । हमारा आराध्य संसार से विमुख हो अर्थात् कामभोगों के प्रति अनासक्त, मोक्षाभिलाषी हो । भक्तामर में आचार्य मानतंग अपने आराध्य को उत्कृष्ट कोटि का वैराग्यवान सिद्ध करते हुए कहते हैं—

'चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिर्नति मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।'<sup>५१</sup>

कल्याणमन्दिर में आचार्य सिद्धसेन ने तो यहां तक कह दिया कि महादेव आदि देव जहां हतप्रभाव हो गए हैं उस कामदेव को भी अपने हरा दिया—

‘यस्मिन् हर प्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः,  
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन ।’<sup>११</sup>

और जयाचार्य ने कामभोगों को प्रत्यक्ष जाल मानते हुए कहा है—

‘विरक्त चित्त विषट्यो इस्यो, जाण्या प्रत्यक्ष जाला’ ।<sup>१२</sup>

छांड गृहवास करी मति निरमली ।<sup>१३</sup>

और इसी प्रकार—

‘विषय विटंबण हो तजिया विषफल जाण ।’<sup>१४</sup>

‘सवेग सखर झूलता उपशम रस लीना ।’<sup>१५</sup>

आदि पंक्तियों में आराध्य का वैराग्यवान् स्वरूप घटित होता है ।

आचार्य अमितगति भी मानते—‘समस्त संसार विकार बाह्य’<sup>१६</sup> अर्थात् आप संसार के सभी विकारों से दूर हैं ।

### मुक्तिप्रदाता

हमारा परम प्राप्तव्य लक्ष्य है— मोक्ष । उसकी प्राप्ति में सहायक बनता है हमारा आराध्य । अतः हमारा आराध्य मुक्ति प्रदान करने वाला हो । मानतुंगाचार्य कहते हैं—

‘नान्य शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ।’<sup>१७</sup>

आचार्य सिद्धसेन के आराध्य की स्तुति मात्र से ही परमात्मदशा प्राप्त होती है—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन ।

देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।<sup>१८</sup>

इसी प्रकार वे आगे कहते हैं—

‘ते विगलितमलनिचया, अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ।’<sup>१९</sup>

आचार्य अमितगति भी इसका समर्थन करते हैं—

‘शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ।’<sup>२०</sup>

गणाधिपति गुरुदेव भी कहते हैं—हे प्रभो ! आपका स्वरूप कैसा है ?

‘भवजलराशि निस्तीर्णः’ ।<sup>२१</sup>

और जयाचार्य की ये पंक्तियां—

‘अहो प्रभो ! तुम ही दायक शिवपंथना ।’<sup>२२</sup>

‘भव सिन्धु पीत तू ही सही ।’<sup>२३</sup>

‘मेटण भव-भव खामी हो ।’<sup>२४</sup>

‘शिवदायक तू जगनःथ ।’<sup>२५</sup>

‘शिवदायक मुखकंद की ।’<sup>२६</sup>

—भी आराध्य के मुक्तिप्रदाता स्वरूप को स्वीकृत करती है ।

### शरणागतरक्षक

आराध्य सर्व सामर्थ्यवान् होता है और भक्त सामान्य । लेकिन आराध्य भक्त को कभी भी सामान्यपन का अहसास नहीं होने देता है । वह उसकी चहुंमुखी जिम्मेवारी को वहन करने वाला होता है । वह न केवल शरण देने वाला अपितु

उस पर आये हर विघ्न का भी विनाश करने वाला होता है। तभी तो कहा है—

‘मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र, रौद्रैरुपद्रवशतैस्तर्वायवीक्षितेऽपि<sup>३८</sup>, भक्तामर (श्लोक संख्या ३४ से ४२) में गही दर्शाया गया है कि भगवान की शरण लेने वाला सम्पूर्ण उपद्रवों से पार पा जाता है। उदाहरण रूप में—

‘त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ।’<sup>३९</sup>

‘बद्धक्रम क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि, नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ।’<sup>४०</sup>

परमात्मद्वित्रिशिका में आचार्य अमितगति ने भी आराध्य को शरणागत स्वरूप-मान कहा है—‘तं देवमाप्तं शरण प्रपद्ये ।’<sup>४१</sup>

इसी प्रकार जयाचार्य ने तो बार-बार आराध्य की शरण स्वीकार कर उन्हें शरणागतवत्सल माना है —

‘अशरण शरण तू ही सही ।’<sup>४२</sup>

‘अंतरयामी शरण आपरै हूं आयो अवधार ।’<sup>४३</sup>

‘शरण तिहारै शरण तिहारै शरण तिहारै हो ।’<sup>४४</sup>

‘शरण आयो स्याम रै जी अविचल सुख नै काज ।’<sup>४५</sup>

‘शरण आया तुझ साहिबा ।’<sup>४६</sup>

और इसी प्रकार गणाधिपति पूज्य गुरुदेव ने भी एकमात्र शरणागतरक्षक को ही याद किया है—

‘मादृगशरणं, धृत चरणम् । भवदन्यं कं शरणं मन्ये ।’<sup>४७</sup>

## शारीरिक सौन्दर्य

जो भी व्यक्ति आराध्य बनने के योग्य हैं वे महान् होते हैं और शील गुण से संपन्न होने से आंतरिक सौन्दर्य से संयुक्त होते हैं लेकिन बाह्य सौन्दर्य भी अपना एक स्थान रखता है। शारीरिक लक्षण भी उत्तम व उत्कृष्ट प्रायः महान् व्यक्तियों को स्वतः प्राप्त रहते हैं। उनके दर्शनमात्र से ही भक्तहृदय खिंचता चला जाता है।

निर्गुणनिराकार, परमपद को प्राप्त आराध्य तो सुन्दर है ही। गणाधिपति गुरुदेव ‘चतुर्विंशति गुण-गेय-गीति’ में कहते हैं—‘नविकाराय निराकृतये, सर्वज्ञाय शिवाय भगवते चिन्मयरूपायमृतये ।’<sup>४८</sup>

भक्तामर में आराध्य की शरीर सुन्दरता का वर्णन करते हुए यहाँ तक कह दिया है—

‘दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं, नान्यत्र तोषमुपयातिजनस्यचक्षुः ।’<sup>४९</sup>

‘यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ।’<sup>५०</sup>

‘वक्त्रं वव ते सुरनरोरगनेत्रहारि, निःशेषनिजित जगत्त्रितयोपमानम् ।’<sup>५१</sup>

इसी प्रकार आचार्य सिद्धसेन ने अपने आराध्य को श्यामवर्ण वाले व अति सुन्दर घोषित किया है—

श्यामं गभीर.....।<sup>४३</sup>

‘सुमतिजनेश्वर साहिव शोभता ।’<sup>४४</sup>

जयाचार्य की ऐसी एक नहीं अनेक पंक्तियां हैं जो उनके आराध्य को सुन्दरतम घोषित करती है—

‘समवसरण विच फावता, इन्द्र थकी ओपै घणी ।’

‘निरख-निरख धापै नहीं, एहवो रूप अमामी हो ।’<sup>४५</sup>

‘सूरत थारी मन बसी साहिवजी ।’<sup>४६</sup>

‘इन्द्र थकी अधिका ओपै ।’<sup>४७</sup>

‘मोनें प्यारा लागै छै जी अर जिनराज ।’<sup>४८</sup>

इस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य भी आराध्य का अतिरिक्त अतिशय होता है ।

### जगन्नाथ

भक्त हृदय में विराजमान आराध्य सर्वोत्कृष्ट होता है । वह अपने आराध्य को सर्वोत्तम उच्चासीन देखना चाहता है । अपने आराध्य की तुलना में दूसरा कोई भी उसकी दृष्टि में नहीं होता है अतः आराध्य तीनों लोकों का शरणभूत, जगन्नाथ, परमपिता परमेश्वर स्वरूप वाला हो ।

कल्याणमन्दिर में—‘विश्वेश्वरोऽपि’ विश्व ईश्वर रूप समान है तो आचार्य अमितगति ने ‘त्रिलोकदर्शी’ विशेषण से युक्त आराध्य की याचना की है । इसी प्रकार ‘यो व्यापको विश्वजनीन-वृत्तिः ।’<sup>४९</sup>

जयाचार्य का आराध्य भी जगत्नाथ है—

‘शिवदायक तू जगनाथ ।’<sup>४९</sup>

‘त्रिभुवन सिर टीको रे ।’<sup>५०</sup>

‘जगदयाल तू ही कृपाल ।’<sup>५१</sup>

‘जगतनाथ जिनजाणी’<sup>५२</sup> आदि ।

### मनोकामनापूरक

सच्चे आराध्य की शरणागति में आने वाला भक्त हृदय वैसे तो सभी अभीप्साओं से उपरत हो चुका होता है फिर भी आराध्यदर्शन की तड़फ उसे भी व्याकुल करती रहती है । मुक्तिधाम तक जाने के लिए वह उत्कट इच्छा वाला हो जाता है । इसीलिए वह अपने आराध्य में वह सामर्थ्य दृष्टिगत करता है जो उसकी हर मनो-कामना पूर्ण कर सकता है । देखिये—जयाचार्य की ही भाषा में—

‘मन चिंतित वस्तु मिले, रटियां जिन स्वामी हो ।’<sup>५३</sup>

‘समरण करतां आपरो, मन वांछित होय ।’<sup>५४</sup>

इस प्रकार इन स्तुतिपरक ग्रन्थों के आधार पर हमारे आराध्य में बहुत सारी विशेषताएं होती हैं ।





## संदर्भ

१. नारदभक्तिसूत्र १९
२. वही, ५।५२
३. भक्तामर स्तोत्र ६
४. कल्याणमन्दिरम् स्तोत्र १८
५. परमात्मद्वान्त्रिशिका १६
६. चौबीसी, ८
७. वही, २
८. वही, ९
९. वही, २०
१०. चतुर्विंशतिगुण-गेय-गीतिः, ७
११. भक्तामर स्तोत्र, १५
१२. कल्याणमन्दिरम् स्तोत्र, ११
१३. चौबीसी, १
१४. वही, १
१५. चौबीसी, ४
१६. वही, १
१७. परमात्मद्वान्त्रिशिका, ६
१८. भक्तामर स्तोत्र, २३
१९. कल्याणमन्दिर स्तोत्र, १५
२०. वही, ४४
२१. परमात्मद्वान्त्रिशिका, १५
२२. चतुर्विंशतिगुणगेय-गीतिः, १२
२३. चौबीसी, २
२४. वही, २
२५. वही, ९
२६. वही, १३
२७. वही, १६
२८. कल्याणमन्दिरम् स्तोत्र, ९
२९. भक्तामरस्तोत्र, ४०
३०. वही, ३५
३१. परमात्मद्वान्त्रिशिका, १८
३२. चौबीसी, २
३३. वही, ५
३४. वही, १३
३५. वही, १८
३६. वही, ११
३७. चतुर्विंशतिगुण-गेय-गीतिः, २०
३८. वही, २१
३९. भक्तामरस्तोत्र, ११
४०. वही, १२
४१. वही, १३
४२. कल्याणमन्दिरम् स्तोत्र, २३
४३. चौबीसी, ५
४४. वही, ९
४५. वही, १०
४६. वही, १२
४७. वही, १८
४८. वही, १३
४९. वही, १७
५०. वही, १९
५१. वही, २०
५२. वही, ७
५३. वही, ९
५४. वही, ६

## महाकवि महाप्रज्ञ का जीवनदर्शन (महाप्रज्ञ कृत संस्कृत काव्य-ग्रन्थों के आधार पर)

■ हरिशंकर पाण्डेय

जब कभी किसी श्रेष्ठ महाकवि के कालादि की सीमा से व्यवच्छिन्न किसी काव्य का अध्ययन करते हैं तो उस समय केवल कविता ही सामने रहती है, उसका अर्थ गौण हो जाता है, क्योंकि अर्थ बुद्धि का विषय है कविता हृदय प्रदेश का। अन्वेषण काल में कुछ और ही हो जाता है। न वंसी रमणीयता होती है न महनीयता। सब कुछ क्षणभर में बदल जाता है। उस समय कुछ और ही हाथ लगता है जो कविता को छोड़कर सब कुछ होता है। काव्यास्वाद ऋत-सरोवर में निमज्जन और सौन्दर्य में विलय का नाम है, जहाँ केवल सत्यानुभूति होती है। अर्थान्वेषण से वैचारिक बोध होता है जो सत्य से काफी अलग रहता है। रसिक रसप्रवाह में निमज्जित होकर धन्य हो जाता है तो वणिक् उस रस के मूल्यांकन करने में ही सब कुछ खो देता है। भंवरा शकुन्तला का अधरामृत पीता है तो दुष्यन्त उसकी जाति खोजने में ही समय गंवा देता है—

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हृतास्त्वं खलुकृती ।<sup>1</sup>

वल्गुता एवं रमणीयता रूप कैलाश की गोद में निवसित कमनीय-कविता रूप आह्लाद्य-अलका से निःसृत गीतमय गांगेय-रसधारा में जो निमज्जित हुआ, समझो कि उसने सब कुछ पा लिया, शरीर का रूप एवं लावण्य आत्मा के त्याग और तप में परिणत हो गया, मानव जीवन का ललाम-लक्ष्य अन्नमय से आनन्दमय कोष की प्राप्ति हो गई, शिवभूत सौन्दर्य-सागर का पता प्राप्त कर लिया, चिद्विलास में रमण करने के सामर्थ्य की लब्धि हो गयी। वह भाग्यवान् जीवन मूल्यों के स्वाद को स्वयं तो खूब चखता ही है, शेष संसार के जीवित प्राणियों, छइल्लो एवं श्रेयस्विपासुओं के लिए भी अमृत-रस की धारा बहा जाता है।

कविता की अलका, कैलास की गोद में है। यहाँ कैलास ही विचारणीय है—जहाँ ज्ञान का लास्य हो, समाधि, साधना और सौन्दर्याराधना का पूर्ण अधिवास हो तथा तप, व्रत, स्वाध्याय और जीवन अनुभव चारों मिलकर एक वैसे आम्रफल का निर्माण करते हैं जिसमें गुठली और छिलका का स्थान नहीं होता। होता है केवल रस, केवल रस। वह फल किसको प्रिय नहीं है? ऐसे कैलास में कविता की अलका बस सकती है, उसकी अनुगामिनी बन सकती है, और उससे निःसृत रस प्रवाह पूरे लोक को आप्यायित करता है।

तात्पर्य यह कि कवि, महाकवि, सारस्वत पुत्र आदि के जीवन-अनुभव जब परिपक्व हो जाते हैं, अविलता का निरसन, वितथ का विरसन हो जाता है, तब वे ही जीवन की अनुभूतियाँ कल्पना, भावना और संगीत का आश्रयण कर लोक में अभिव्यक्त होते हैं।

स्वभावतः काव्य-कला में जीवन और जगत् के प्रति महाकवि का दृष्टिकोण ही रूपायित होता है। कवि का जीवन, आचार, चरितोत्कर्ष, व्यतिगत मान्यताएं आदि कविता में अभिव्यञ्जित होती हैं। कविता के माध्यम से कवि उस सत्य की व्याख्या करना चाहता है जिसकी अनुभूति का स्वाद वह पहले चख लेता है। वह अहं का विसर्जन कर जिस आनन्द तरंगिणी में अहंनिश निमज्जित रहता है उसी की शाब्दिक अभिव्यक्ति काव्य-कला के माध्यम से करता है। भक्त-कवि अपने उपास्य-चरण-सागर से बटोरी हुई मणियों को ही काव्य-माला में पिरोता है, तो दार्शनिक आत्मांबुधि में निमज्जन से प्राप्त रत्नों को काव्याक्षरों में सजाता है। कवि, कलाकार आदि निज जीवन या स्वगत अनुभूतियों को ही अपनी कला के माध्यम से अभिव्यञ्जित करते हैं। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक एम० विल्किंसन का अभिमत है कि सत् काव्य महान् व्यक्तित्व के सभी महनीय विशेषताओं के योग से मूर्तिमान् होता है—

It is well to remember that great-poetry is the result of a noble synthesis of all the powers of personality.

हृदयस्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति के दृष्टांत प्राचीनकाल से ही लभ्य हैं। ऋषि वाल्मीकि अपने हृदय में स्थित राम की अभिव्यंजना करते पाए जाते हैं तो पाराशर-नन्दन व्यास अपने हृदयेश कृष्ण के चरणों में भक्ति-पुष्प अर्पण करते हुए। कालिदास श्रुत्यानुमोदित धर्म की प्रतिष्ठा में व्यस्त हैं तो भारवि, माघ अपने पांडित्य-विजृम्भण में तल्लीन। आचार्य मानतुंग संसार-संतारण-समर्थ नौका की व्याख्या में तो जयदेव 'हरिमवलोक्य सफल्य नयने' की आराधना में आसक्त। इसी प्रकार महाकवि महाप्रज्ञ अनुभूत सत्थों की प्ररूपणा एवं घटित-घटनाओं की अभिव्यंजना में अनुरक्त हैं। ये अपने काव्य-ग्रन्थों में उन्हीं की कहानी कह रहे हैं जिनका साक्षात्कार उन्हें अपने जीवन में हो चुका है। 'सम्बोधि', 'अश्रुवीणा', 'रत्नपालचरित' आदि काव्यग्रन्थों से वे ही ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं जो पूर्व में ही इनके ध्वनि-तन्त्रों में स्थापित हो चुकी हैं, प्राणवायु में मिल गयी हैं। इन्होंने जो कुछ भी अनुभव किया, जिस किसी को अनुभूति का विषय बनाया, उसी का सारस्वत संविधान इन काव्य ग्रन्थों में पाया जाता है।

## १. श्रद्धा : जीवन रस

कवि सर्वप्रथम उसी की चर्चा करता है, जिसका अवलम्ब लेकर वह महान् बनता है आचार्य, दार्शनिक, विचारक या समाज का कोई भी सारस्वत पुरुष, अपनी बौद्धिक क्षमता के विकसित होने पर, प्रथमतः उसी को शाब्दिक अभिव्यक्ति देता है, जिसका

परम उपकार उसके जीवन में होता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं व्यावहारिक सत्य है कि जब कभी समय मिलने पर अनाविल-मानस महाकवि उसी के प्रति अपने हृदय के बैखरी-पुष्प को समर्पित करता है, जो उसे आविल-संसार-सागर की भयंकर भंवरों से पार करने में सहायक होता है। यह आकाशी कल्पना का विजृम्भण या बौद्धिक-व्यायाम मात्र नहीं बल्कि प्रत्यक्ष सत्य है।

महाकवि-महाप्रज्ञ इसलिए महाप्रज्ञ बनें कि प्रथम सोपान में ही उन्होंने श्रद्धा का वरण किया; उसके आंचल में खेले। स्वयं श्रद्धा का मूर्तिमन्त विग्रह बन गए। यह कथन कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ के पास जो कुछ भी रत्न हैं, वे सब श्रद्धा-सागर से ही समुत्थित हैं। संसार में जो भी महापुरुष बने हैं—सबने श्रद्धा का ही आश्रय लिया है। हमारे महाकवि ने श्रद्धा का स्वाद खूब चखा और चखकर मुनि, महाप्रज्ञ और मृत्युंजयी बन गए। अश्रुवीणा के अमरगीत के संगायक, विवेच्य महाकवि का स्पष्ट उद्घोष है—“श्रद्धा का स्वाद जिसने नहीं चखा उसका जन्म ही वृथा है”—

सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशाः यत्र तर्का,<sup>१</sup>  
 सर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वास भूमौ ।  
 सर्वे स्वादाः प्रकृतिमुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः  
 श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेनजन्म ॥

यह श्रद्धा नेत्रहीन व्यक्तियों के लिए नेत्र और चरणहीन व्यक्तियों के लिए चरण है। श्रद्धाविहीन मन भव्यत्व को कभी प्राप्त नहीं कर सकता है। अतुला तुला का प्रसंग भी द्रष्टव्य है—

अचक्खुगाणं इणमत्थि चक्खू,  
 अपायगाणं चरणं इणं च ।  
 सद्धाविहीणस्स मणस्स देसे,  
 णो वारिहं वोत्तुमिणं ति भव्वं ॥<sup>२</sup>

‘ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नहीं होता’ श्रद्धा सम्पूर्ण की साधिका है, क्योंकि श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है। आचार्य महाप्रज्ञ स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा करते हैं कि ‘ज्ञान ने सदा मेरा अनुसरण नहीं किया, किन्तु श्रद्धा सदा मेरी अनुचारिणी बनी रही है। अतः मैं व्यक्त होने पर भी मानता हूँ कि श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है’

णाणेण हं णाणुसओम्हि णिच्चं,  
 सद्धा उ णिच्चं अणुचारिणी मे ।  
 वत्तो पि हं इणं च मन्ने,  
 सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥<sup>३</sup>

श्रद्धा का प्रकाश इसलिए भी महान् है कि जहां श्रद्धा का साम्राज्य होता है, वहां द्वैत का सर्वथा अभाव हो जाता है, आनन्द रस की सरिता प्रवाहित हो जाती है लेकिन जहां इसका अभाव हुआ, वहां दुःख का सागर लहराने लगता है। श्रद्धा की ऐसी

प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक व्याख्या वही कर सकता, जिसका जीवन श्रद्धारस से आप्लावित हो चुका है। महाकवि महाप्रज्ञ के शब्दों में—

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्रवाणीश्रिताऽसि ।<sup>१</sup>

दुःखं तत्रोच्चलति विपुलं यत्र मीनावलम्बा ॥

संबोधिकार महाप्रज्ञ का स्पष्ट निर्देश है कि जो वीतराग की भाजा के प्रति श्रद्धावान् है, वही मेधावी है तथा संसार-सागर-संतरण में समर्थ होता है—

आराधको जिनाज्ञायाः संसारं तरति ध्रुवम् ।

तस्या विराधको भूत्वा, भवाम्भोघौ निमज्जति ॥

आज्ञायां यश्च श्रद्धालुः मेधावी स इहोच्यते ।

असंयमो जिनाज्ञायां जिनाज्ञा संयमो ध्रुवम् ॥<sup>२</sup>

श्रद्धा युक्त विनय से व्यक्ति महान् से महत् (श्रेष्ठ) बन जाता है— इस तथ्य की उद्घोषणा स्वयं महाकवि के शब्दों में—

अकार्षीच्छ्रद्धेयां विनयपरिपाटीं गुरुपदे,<sup>३</sup>

द्रुतं प्रापद् रम्यां महिम परिपाटीं गुरुपदाम् ।

व्यधात् भक्तिं हृद्यामभजत विभक्तिं मुनिपदा-

दिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ॥

(आपने गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त विनय का प्रयोग किया और बदले में सुरम्य तथा विशाल महिमा के स्थान को प्राप्त कर लिया। आपने गुरु के प्रति हृदय से भक्ति दिखाई और आप मुनिपद से विभक्त हो गए—आचार्य बन गए। भगवन् यह भक्ति है या विनिमय ?)

श्रद्धा के लिए हृदय की पवित्रता आवश्यक है। जिसका हृदय सद्यःजात शिशु के समान या तर्कबाण से उबे हुए महाज्ञानी के सदृश पवित्र है, वही व्यक्ति श्रद्धा का वरणीय होता है। अश्रुवीणा का प्रारम्भ ही महाकवि श्रद्धा-चेतना की इसी व्याख्या से करते हैं—

श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्घदिग्घास्यदन्तान्,

भद्रानज्ञान् वचसि निस्तास्तर्कवाणैरदिग्धान् ।

विज्ञांश्चापि व्यथितमनस्तर्कलब्धावसादा-

त्तर्कणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थान हेतुः ॥<sup>४</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में जीवन श्रेष्ठता की साधना भूमि में श्रद्धा प्रथम एवं अनिवार्य सहचरी है। श्रद्धा और विश्वास का संबल प्राप्त करके ही कोई जीव महामनीषी की यात्रा को पूर्ण करता है, इसलिए श्रद्धा जीवन रस है। जैसे रस के बिना फल की कल्पना नहीं की जा सकती वैसे ही श्रद्धा के बिना जीवन क्या होगा ?

## २. भक्ति : श्रेयस्साधिका

आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में श्रद्धा जीवन रस है तो भक्ति जीवन-धन। श्रद्धा

की विकसित अवस्था का नाम ही भक्ति है। प्रभु के गुणों पर अनन्य विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा भक्ति-पद वाच्य है। श्रद्धा से हृदय पवित्र होता है, प्रभु किंवा गुरु के गुणों के प्रति, अर्हदाज्ञा के प्रति विश्वास बढ़ता है तब भक्ति से वे गुण स्वयं के अनाविल मानस में उतरने लगते हैं। जैसे जोती हुई भूमि में बीज शीघ्र ही उग आते हैं एवं विकास को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार श्रद्धा-सिंचित हृद्प्रदेश में प्रभु-गुण का सहजता से आरोपण एवं विकास होने लगता है।

प्रभु, तीर्थंकर, गुरु आदि श्रेष्ठ पुरुषों के गुणों के प्रति अनुरक्ति भक्ति है। आत्मा के अविपरीत स्वभाव में रमण भक्ति है। शांडिल्य के शब्दों में—

आत्मरत्यविरोधेनेति शांडिल्यः ।<sup>10</sup>

अविच्छिन्न रूप से शुद्ध आत्मरूप में रहना ही आत्मरति है, इस आत्मरति में नित्य स्थित रहना ही भक्ति है। श्री शंकराचार्य ने मोक्षसाधक सभी साधनों में भक्ति को श्रेष्ठ माना है—

मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी ।

स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥<sup>11</sup>

सर्वार्थसिद्धिकार ने भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग को भक्ति कहा है—  
'भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः ।'<sup>12</sup> अर्थात् पूज्य के प्रति विशुद्ध एवं अविच्छिन्न रति भक्ति है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सभी संस्कृत ग्रन्थों में यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भक्ति श्रेष्ठ साधन है, साध्य भी है। अश्रुवीणा में साधन भक्ति का दर्शन होता है। जब सब कुछ छूट जाता है, संसारिक-आश्रय दुःख-निरोधन में असमर्थ हो जाते हैं, दुःख का कारण भी बनने लगते हैं, तब एकमात्र भक्ति ही काम आती है, उस परम-प्रभु के प्रति अनन्य-रति सहायिका बन जाती है। अकिंचन चंदन बाला अपनी नमस्कारात्मिका भक्ति से ही प्रभु चरणों से शाश्वत सम्बन्ध जोड़ लेती है—

सर्वा सम्पद् विपदि विलयं निविरोधं जगाम,<sup>13</sup>

व्यूदश्रद्धा महति मुकुतेऽद्यापि नूनं परीक्षया ।

भक्त्यादेशा प्रकृतिकृपणाऽकिञ्चनैनिविशेषा,

स्वाभिन्नेषा वितयविनिताऽस्मि प्रणामावशेषा ॥

दैन्यावस्था में या जब संसार विपन्न हो जाता तब समर्थ की भक्ति ही काम आती है। महाभारत की द्रौपदी, श्रीमद्भागवत महापुराण की उत्तरा, अर्जुन, गजेन्द्र आदि की भक्ति इसी कोटि की है। विपत्ति की वेला में मृत्युजेता का आश्रय। आचार्य मानतुङ्ग भी इसी परम्परा में उपस्थित होते हैं। संकट की घड़ी में संकट-मुक्त की उपासना, घोर-संसार में जन्मजरा-मरण रूप दुःख से बचने के लिए मृत्युजेता की अभ्यर्थना -

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रमाणा-

मुद्योतकं दलित-पाप तमोवितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-

वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥<sup>14</sup>

भक्त का भगवान् त्रैलोक्य सुन्दर होता है—

यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।<sup>१५</sup>

महाकवि महाप्रज्ञ का प्रभु त्रैलोक्य-सौभग रूप से युक्त है । कामदेव भी इनकी महानता से विजित हो गया है—

समूलमुन्मूलयितुं च चेष्टनं,  
विधीयते प्रत्युत हाह ! मामपि ।<sup>१६</sup>  
योहं न शक्नादिभिरेव वञ्चितः,  
स विप्रलब्धोस्मि महात्मनाऽमुना ॥

गुरु चरण में निवास ही महाप्रज्ञ को काम्य है । आचार्य स्तुति के प्रसंग में वे कहते हैं— कुछ व्यक्ति आपके (गुरु तुलसी के) हृदय को विशाल बताते हैं, कुछ आपके मन को और कुछ आपके सुन्दर ललाट को । किन्तु देव ! मैं तो आपके चरणों को ही विशाल मानता हूँ जहाँ कि हजारों-हजारों व्यक्तियों के मन निवास करते हैं—

वाणी पवित्रं विदधाति कर्णं,  
स्तुती रसज्ञां नयनं च मूर्त्तिः ।  
परं तु सर्वोत्तममुत्तमाङ्गं,  
पुनाति पुण्यश्चरणस्तवासौ ॥<sup>१७</sup>

### ३. आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन

आचार्यश्री महाप्रज्ञ महाव्रती, तपस्वी एवं श्रेष्ठ मोक्ष साधक हैं । श्रेयस् की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम इन्होंने स्व की ओर अवलोकन और आत्मनिरीक्षण पर बल दिया है । रत्नपाल चरित्र के रात्रि-प्रसंग में इस तथ्य को विस्तार से निरूपित किया है । राजा रत्नपाल जब रात्रि को, अंधकारदात्री होने के कारण कोशता है तब रात्रि जबाब देती है—

आप लोग मेरे अन्धकार को भयप्रद एवं दुःखदायी अनुभव करते हैं, किन्तु इसी प्रकार मन के अन्धकार को दुःखप्रद एवं भयप्रद क्यों नहीं मान रहे हैं—

मम तमोऽसुखदं भयदं ध्रुव,  
मनुभवन्ति भवन्त इदं तथा ।  
किमु न मानससंतमसं भयाऽ-  
सुखकरं प्रविदन्त्यपि हा ! हतम् ॥

जिस दिन मन का अन्धकार नष्ट हो जाएगा, उस दिन रात और दिन में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा । मनुष्य कितने अविवेकी होते हैं, वे रहस्य को नहीं जानते । वे मेरे अन्धकार को तो दीप जलाकर दूर करना चाहते हैं, परन्तु अपने मन के अंधकार को मिटाना नहीं चाहते—

परमहो ! मनुजा अविवेकिनो,  
नहि भवन्ति रहस्यविदः क्वचित् ।  
अपचिकीर्षव एव तमो मम,  
गृहमणेनिचयान्मनसो न च ॥<sup>१८</sup>

उपर्युक्त प्रसंग से आत्मनिरीक्षण-साधना की अनिवार्यता स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

आत्मनिरीक्षण का तात्पर्य है -- अपनी ओर देखना । मैंने क्या किया है ? मेरे लिए क्या करना बाकी है ? ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे मैं नहीं कर सकता ? आदि का चिन्तन आत्म-निरीक्षण है । जैसे शरीर के लिए आवश्यक कार्य किए जाते हैं वैसे ही आत्मा के लिए भी होने चाहिए । एक विचारक ने कहा है -- मनुष्य शरीर को खुराक देता, किन्तु आत्मा को नहीं । आत्मा को भोजन दिए बिना मनुष्य का जीवन अंत में अर्थहीन सिद्ध होता है । उसमें रस उत्पन्न नहीं होता, आदमी लगभग मरा हुआ जीता है । इसी कारण संबोधिका ने दिवस का प्रथम कृत्य आत्म-निरीक्षण को ही माना है—

सद्यः प्रातः समुत्थाय स्मृत्वा च परमेष्ठिनम् ।<sup>२०</sup>

प्रातः कृत्यान्निवृत्तः सन् कुर्यादात्मनिरीक्षणम् ॥

#### ४. समता की साधना

सभी परिस्थितियों में एक रस रहना, 'दुःखेषु अनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः' अर्थात् दुःख में अनुद्विग्न और सुख में स्पृहा रहित होना समता की साधना या समत्व-योग है । 'समया धम्ममुदाहरे मुणी' की विस्तृत व्याख्या महाप्रज्ञ के काव्य-ग्रन्थों में प्राप्त होती है—'सुख और दुःख को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए' इस तथ्य को महाप्रज्ञ वृक्षों के माध्यम से उद्घाटित करते हैं । रत्नपालचरित में वृक्ष राजा रत्नपाल से कहते हैं ।

राजन् ! हम जीवन पर्यन्त आप से उपेक्षित रहते हैं फिर भी दैन्य भाव को धारण नहीं करते हैं । संतोषपूर्वक जीवन निर्वाह करते हैं—

चित्रं तदेतत् तवसूनवोऽपि,

ह्याजन्ममृत्योस्त्वदुपेक्षिताश्च ।

छायां त्यजामो न तवाग्रतोऽपि,

संतोषभाजां महिमा ह्यगम्यः ॥<sup>२१</sup>

आगमकार कहते हैं—जीवन-मरण में संयोग-वियोग में, अप्रिय एवं प्रिय में जो समभाव रखता है वही पूज्य होता है । आचारांग का ऋषि उद्घोषित करता है—

'लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा'<sup>२२</sup>—रागद्वेष के प्रसंग में जो व्यक्ति सामान्य रहता है वही पूज्य होता है— जो रागदोर्सेहि समो स पुज्जो ।<sup>२३</sup> जो व्यक्ति संतोष को धारण करते हैं कभी पाप नहीं करते—संतोसिणो ण पकरंति पाव'<sup>२४</sup> इस आगमिक सिद्धांत की प्रतिष्ठापना वृक्षों के 'संतोषभाजां महिमा ह्यगम्य'<sup>२५</sup> इस सूक्ति वचन के द्वारा की गई है । सभी परिस्थितियों में क्षमा धारण करना महाप्रज्ञ का जीवन-सिद्धांत है । वृक्ष कहते हैं—राजन् ! लोग हमारा छेदन-भेदन करते हैं, फिर भी हम तुम्हारे पास शिकायत नहीं करते हैं । हम क्षमा (धरती) के पुत्र हैं इसलिए क्षमा धारण करते हैं—



छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनास्तथापि,  
 पूत्कुर्महे नो तव सन्निधाने ।  
 क्षमातनूजा इति संप्रधार्यं,  
 क्षमां वहामो न र्षं सुजामः ॥<sup>२६</sup>

संबोधिकार मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों विषयों में समत्व धारण करना वीतरागता का मापदण्ड मानते हैं—

अमनोज्ञा द्वेषबीज, राग-बीजं मनोरमाः ।  
 द्वयोरपि समः य स्याद्, वीतरागः स उच्यते ॥<sup>२७</sup>

धम्मपदकार इसे ही अनासक्त की संज्ञा से अभिहित करते हैं—जिसे न इस लोक की और न परलोक की अभिलाषा है वही विरक्त और अनासक्त पुरुष ब्राह्मण कहलाता है—

आसा जस्स न विज्जन्ति अस्मि लोके परम्हि च ।  
 निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥<sup>२८</sup>

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सर्वो-गर्मी, सुख-दुःख आदि में समबुद्धि धारण करने की बात कही है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः ।  
 आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥<sup>२९</sup>

इस प्रकार आचार्य महाप्रज्ञ की समस्त कृतियों में समता का संगीत सुनाई पड़ता है, क्योंकि अहिंसा साधना की प्रथम पृष्ठभूमि समता ही है। समभाव के बिना अहिंसा की उपासना हो नहीं सकती है। जो विपरीत परिस्थितियों में धैर्य धारण करता है वही अहिंसा की साधना कर सकता है। इसमें स्वयं महाप्रज्ञ के वचन प्रमाण हैं। संबोधि में भगवान् मेघकुमार से कहते हैं—

अहिंसा लक्षणो धर्मस्तितिक्षालक्षणस्तथा ।  
 यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाहिंसा तत्र संभवेत् ॥<sup>३०</sup>

## ५. अहिंसा की आराधना

‘मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः’<sup>३१</sup> ‘मा हिंसीः पुरुषं जगत्’<sup>३२</sup> अहिंसा परमो धर्मः<sup>३३</sup> धम्ममहिंसासमं नत्थि,<sup>३४</sup> तुमसि णाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि,<sup>३५</sup> भूतहितं ति अहिंसा<sup>३६</sup> आदि सूक्ति वचनों का सम्पूर्ण रूपायन महाकवि महाप्रज्ञ के जीवन में लक्षित होता है। महाप्रज्ञ के लिए अहिंसा जीवनादर्श है। उनकी दृष्टि में अहिंसा सर्वश्रेष्ठ गुण, सर्वश्रेष्ठ व्रत, सर्वश्रेष्ठ संयम एवं सर्वश्रेष्ठ तप है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में अहिंसा सभी व्रतों में श्रेष्ठ है। वह श्रेष्ठ धर्म है। भगवती अहिंसा भयभीत व्यक्तियों के लिए शरण, भूखों के लिए भोजन एवं प्यासों के लिए पानी की तरह है—

शरणमिव भीतानां क्षुधितानामिवाशनम् ।  
 तृषितानामिव जलमहिंसा भगवत्यसी ॥<sup>३७</sup>

संबोधि में ‘आत्मवद् सर्वभूतेषु’ की ध्वनि सुनाई पड़ती है—‘सर्वभूतात्मभूतो हि

स्यादर्हिंसा परायणः' ।<sup>32</sup>

अहिंसा का शब्दार्थ है—हिंसा का निषेध । यह उसका निषेधात्मक रूप है । अहिंसा का विधेयात्मक रूप है—प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव, राग-द्वेषादि का अभाव । अहिंसा धर्म का पहला लक्षण है—अहिंसा लक्षणो धर्मः ।<sup>33</sup> अहिंसक कभी भी परजीव का हनन नहीं करता । वह शत्रु को भी मित्र मानता है । पीड़क पर भी क्रुद्ध नहीं होता है । तात्पर्य है कि प्रिय और अप्रिय में समदृष्टि अहिंसा है और वैसी दृष्टि का धारक अहिंसक कहलाता है—प्रियाप्रिये निर्विशेषः समदृष्टिरहिंसकः ।<sup>34</sup> अभयत्व की साधना अहिंसा है, अप्रमत्त व्यक्ति ही अभय होता है तथा अहिंसक भी वही होता है—भयं नास्त्यप्रमत्तस्य स एव स्यादर्हिंसकः ।<sup>35</sup> जहां अभय सिद्ध होता है वहां अहिंसा सिद्ध हो जाती है ।<sup>36</sup> जो आत्मा से आत्मा को देखता है, सभी आत्माओं को देहदृष्टि से भिन्न होने पर भी चैतन्य के सादृश्य की दृष्टि से सबसे अभिन्न मानता है, वह अहिंसा को साध लेता है ।

अहिंसा समता भाव है, और वही चरित्र है । सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये अहिंसा के ही रूप हैं ।

सत्यमस्तेयकं ब्रह्मचर्यमेवमसंग्रहः ।

अहिंसाया हि रूपाणि विहितान्यपेक्षया ॥<sup>37</sup>

अहिंसा आत्मगुण संरक्षिका है ।<sup>38</sup> अहिंसा आत्मा की अनुत्तर अवस्था है—

'सात्मस्थितिरनुत्तरा' ।<sup>39</sup>

इस प्रकार अहिंसा सभी धर्मों, उपासनाओं और महाव्रतों का मूल है । आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में जिसने अहिंसा को पूर्णतया साध लिया वह सब कुछ साध लेता है ।

## ६. आज्ञावाद की उपासना

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का जीवन-मूल है—'आज्ञावाद' में पूर्णतया निरत रहना । वीतराग ने जो देखा, जिसका उपदेश किया और जिसका समर्थन किया वह आज्ञा है । अर्थात् वीतराग सिद्धांत आज्ञावाद है, जो भव्य जीवों की आत्मसिद्धि का हेतु है—

वीतरागेण यद् दृष्टमुपदिष्टं समर्थितम् ।

आज्ञा सा प्रोच्यते बुद्धिर्भव्यानामात्मसिद्धये ॥<sup>40</sup>

साधकों के लिए आज्ञा-वीतराग सिद्धांत में अप्रसन्नता और अनाज्ञा में प्रसन्नता विषाद-कारक है । तीर्थंकर की पर्युपासना की अपेक्षा उनकी आज्ञा का पालन श्रेयस्कर है । आज्ञा की आराधना करनेवाले मुक्ति को प्राप्त होते हैं और उससे विपरीत चलने वाले संसार में भटकते हैं—

आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ।<sup>41</sup>

आज्ञा का परम सार है—राग और द्वेष का वर्जन । ये ही संसार के हेतु हैं और इनसे मुक्त होना मोक्ष है ।<sup>42</sup>

आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में वीतराग की आज्ञा की आराधना करने वाला

निश्चित रूप से संसार को तर जाता है और उसकी विराधना करनेवाला भवसागर में डूब जाता है—

आराधको जिनाज्ञायाः, संसारं तरति ध्रुवम् ।

तस्या विराधको भूत्वा भवाम्भोधौ निमज्जति ॥<sup>५०</sup>

### ७. पुरुषार्थ की उर्वरा भूमि

मोक्ष रूप फलदायी वृक्ष का विकास पुरुषार्थ की उर्वराभूमि पर ही हो सकता है । संसार में कोई भी लौकिक या अलौकिक क्षेत्र पुरुषार्थ से रहित नहीं हो सकता । संसार में मनुष्य अपने पुरुषार्थ से प्राप्त अन्न पर ही जीवित रहते हैं—

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः ।<sup>५१</sup>

पुरुषार्थ से सम्पूर्ण पाप-दोष विनष्ट होकर गिर जाते हैं, इसलिए ऋषि 'चरैवेति चरैवेति'<sup>५२</sup> का उद्घोष करता है । पुरुषार्थी अपने पुरुषार्थ से दैव (भाग्य) को भी प्रवाधित कर देते हैं, वे कभी भी दैवी विपत्तियों से अवसन्न नहीं होते । वाल्मीकि रामायण की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

दैवं पुरुषकारेण, यः समर्थः प्रवाधितुम् ।

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥<sup>५३</sup>

चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं । श्रामण्य-धर्म में मोक्ष पुरुषार्थ को ही महत्त्व दिया गया है ।<sup>५४</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में मोक्ष-स्वरूप परम-पुरुषार्थ ही कल्प्य है । सारा भौतिक सुख सबाध एवं क्षणिक है आत्मा शाश्वत है । राग-द्वेषादि से दिग्मूढ़ व्यक्ति सनातन सुख को छोड़कर अवास्तविक सुख में लिप्त हो जाता है ।

कष्ट के बिना श्रेयमार्ग की प्राप्ति नहीं होती है । अपने बल, वीर्य, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और समय को जानकर व्यक्ति उसी के अनुसार अपनी आत्मा को सत्क्रिया में लगाए । संबोधि की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

बलं वीर्यं च सम्प्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।

क्षेत्रं कालं च विज्ञाय, तथात्मग्नं नियोजयेत् ॥<sup>५५</sup>

साधना-समर से भागा हुआ मेघकुमार भगवान् के उपदेश से प्रतिबोधित होकर पुनः पुरुषकार (मोक्ष साधना) में प्रवृत्त होता है तथा शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

वीर्य सम्पन्न पुरुष सभी द्वन्द्वों—सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, मान-अपमान आदि को समान मानकर अपने कल्याण की ओर जाता है—

धीरः कष्टमकष्टञ्च समं कृत्वा हितं व्रजेत् ॥<sup>५६</sup>

जो पुरुषार्थी है, निस्सार भोजन, एकांत वसति, एकांत आसन और अल्पाहार का सेवन करता है और जो इन्द्रियों का दमन करता है । देव उसके सामने स्वयं प्रकट होते हैं । वह संवृतात्मा यथार्थ स्वप्न देखता है, संसार के प्रवाह को तर जाता है और दुःख से मुक्त हो जाता है—

अथा यथास्थितं स्वप्नं, क्षिप्रं पश्यति संवृतः ।

सर्वं वा प्रतरत्यौघं, दुःखाच्चापि विमुच्यते ॥<sup>५०</sup>

इस प्रकार पुरुषार्थी शीघ्र ही संसार दुःख को पार कर जाता है ।

## द. सर्वभूत मैत्री

महाकवि महाप्रज्ञ जड़-चेतन रूप सम्पूर्ण जीव-जाति के साथ मैत्रीभाव के पक्ष-पाती हैं । 'मेत्ती मे स्ववभूएसु' यह आगमिक वचन इनके जीवन तथा साहित्य दोनों में व्याप्त है । संबोध में महाकवि की स्पष्ट उक्ति है कि वैरी व्यक्ति वैर करते-करते उसी में अनुरक्त हो जाता है, इसलिए सदा सत्यसम्पन्न बनकर सभी जीवों के साथ मैत्री का व्यवहार करना चाहिए—

स्वाख्यातमेतदेवास्ति सत्यमेतत् सनातनम् ।

सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्री भूतेषु कल्पयेत् ॥<sup>५१</sup>

रत्नपालचरित में कवि की यह भावना अत्यन्त उन्नतावस्था में पहुंच गयी है । मनुष्य को कौन कहे, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, उद्यान, सरोवर आदि प्रकृति जगत् भी मैत्री धर्म का निर्वाह करता हुआ दिखाई पड़ता है । राजा जब नगर से देशाटन के लिए प्रस्थान करता है तब बन्धु पशु राजा का मित्र बनकर उनका मनोविनोद करते हैं—

सखाय एते पशवो विनोदं,

तन्वन्ति वैचिद्व्युपदर्शनेन ।

राज्याद् विना बाहनमत्र किं मे,

न्यूनं स्थितोऽत्रेति विवेक्ति तावत् ॥<sup>५२</sup>

## ६. मोक्ष पथिक का प्रकृष्ट पाथेय : संयम

संयम आत्म-जागरण है । उससे आत्मगुणों का उपवृंहण होता है । आत्मा के मूल गुण हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य, सहजानन्द आदि इन सबका प्राप्ति का कारण है—संयम । संयमरत गृहस्थ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक जाता है । संयम-साधना से स्वर्ग में दीर्घायु, ऋद्धिमान्, समृद्ध, इच्छा-नुसारी तथा कान्ति सम्पन्न देवयोनि की प्राप्ति होती है । संयम से सभी कर्मों का क्षय होता है जिससे संयमी मुक्त हो जाता है या समृद्धशाली देव बनता है ।

संयम से आवरण, विघ्न, दृष्टिमोह और चरित्रमोह का निरोध होता है, इसलिए वह साध्य (आत्म) सिद्धि का साधन है—

आवरणस्य विघ्नस्य मोहस्य दृक्चरित्रयोः ।

निरोधो जायते तेन संयमः साधनं भवेत् ॥<sup>५३</sup>

जो पुरुष श्रद्धा सम्पन्न होकर अपने को संयमी बना आत्म-साधना करता है, वह शांत—कषायरहित पुरुष साध्य-आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है—

आत्मानं संयतं कृत्वा, सततं श्रद्धयान्वितः ।

आत्मानं साधयेत् शांतः साध्यं प्राप्नोति स ध्रुवम् ॥

महाकवि महाप्रज्ञ सतत संयमारूढ हैं इसीलिए इनके काव्य-ग्रन्थों के सभी पात्र

संयम की साधना कर संबोधि को प्राप्त करते हैं। चाहे साधना-समर से पलायित श्रेणिकात्मज मेघकुमार हो या संसार के क्रूरता से दग्ध चन्दनबाला अथवा नश्वर-पति की व्यथा से व्यथित यौवनधन्या कुमारी रत्नवती—सबके सब संयमारूढ़ होकर भव्य एवं उदात्त पृष्ठभूमि को प्राप्त करते हैं, मुमुक्षुत्व के राग में रंजित हो जाते हैं। जो कुमारी रत्नवती कल तक मर्त्यपति के विरह से विदग्ध होकर जंगल-जंगल उसको खोज रही थी वही आज संयमारूढ़ होकर परमशांत हो गई। जो कल तक उसे व्यथित करते थे वे ही आज निर्वेद एवं शम का संगीत सुना रहे हैं। बाहरे संयम का महत्त्व—राजकुमारी व्योम और पथ से कहती है—हे अनासक्त व्योम ! तुम अनासक्त हो इसलिए निर्मल हो, तुम्हारे में विरूपता नहीं है। जो दूसरों के संग से आसक्त होते हैं उनका रूप विकृत हो जाता है। पथ ! तुम न राजाओं-महाराजाओं का सत्कार किया है और न इच्छानुसार चलने वाले पामर व्यक्तियों का तिरस्कार। इसलिए इच्छानुसार गमन करने वाले व्यक्तियों को उनके गन्तव्य तक पहुंचा देते हो—

पथ त्वया न सत्कृता नृपादयो महाजना  
स्तिरस्कृता न पामरा नरा यथेष्टमीत्वराः ।  
ततो महत्त्व वल्लरि प्रफुलितात्म मञ्जरी,  
ददाति वाञ्छितंपुरं नृणां यथेष्ट चारिणाम् ॥<sup>१३</sup>

कामुक रथिक की क्रूरता एवं सेठानी की दुष्टता से पीड़ित चन्दनबाला संयमारूढ़ होती है। भगवान् की कृपा वशात् उसके हाथ पैर के बन्धन तो टूट गए लेकिन अभी तक आत्मा का बंधन नहीं टूटा। शरीर पर पहले जैसा सौन्दर्य निखर आया लेकिन आत्मा का सौन्दर्य अब भी नहीं निखरा। कश्यापूर्ण आंखों से आसुओं की धार पोछी गई किन्तु दुःख का स्रोत अब भी नहीं सूखा। चन्दनबाला इस ऊर्ध्वदर्शन द्वारा निम्न-भाव आंगन में बरसे हुए रत्नों के ढेर (संसार) में आसक्त नहीं बनी, वह पूर्णतया संयमारूढ़ हो गई—

छिन्नो बन्धः करचरणयोर्नात्मनः किन्तु गूढः,  
सौन्दर्यं तद् वपुसि हसितं प्राक्तनं नात्मनस्तु ।  
धारा मृष्टा सकरुणदृशोः स्रोतसो नाऽसुखानाम्,  
पश्यन्त्यूर्ध्वं पलमपि न सा निम्नभावेषु मूढा ॥

## १०. जीवन का परम लक्ष्य : मोक्ष

आचार्य महाप्रज्ञ की हर क्रिया, प्रत्येक दर्शन, यहाँ तक एक-एक श्वासोच्छ्वास भी एक ही कर्त्तव्य, एक ही प्राप्तव्य और एक ही लक्ष्य के लिए समर्पित है। व्यावहारिक जीवन की सच्चाई तो है ही काव्यात्मक उद्घोषणा भी है। महाकवि ने अपने काव्यग्रन्थों में जितने ही पात्रों का सृजन किया है, सबके सब इसी मोक्ष रूप महा विभूति की सम्प्राप्ति के लिए लालायित हैं। 'संबोधि' का मेघकुमार, 'अश्रुवीणा' की चन्दनबाला, 'रत्नपालचरित' के राजा रत्नपाल, मंत्री और निसर्ग यौवना कुमारी आदि सभी पात्र एक ही बिन्दू की ओर अग्रसर दिखाई पड़ते हैं—

इत्यालोचनतत्परा मुनिपदे रक्ताबभूवाधिकं,  
 स्वात्मानं विशदीकरोति सततं राजर्षिरप्यात्मना ।  
 मन्त्री तन्त्रविधिं विधाय विधिवज्जग्राह दीक्षां शुभां,  
 सन्तो यन्ति यथेप्सितं सुविदितामात्मानुभूतिं पराम् ॥<sup>६४</sup>

चन्दनबाला काव्य के प्रारम्भ से ही मोक्ष मार्ग में आसक्त दिखाई पड़ती है—  
 जाता यस्मिन् सपदि विफला हावभावा वसानां,  
 कामं भीमा अपि च मिरुतां कष्टपूर्णाः प्रयोगाः ।  
 तस्मिन् स्वस्मिल्लयमुपगते वीतरागे जिनेन्द्रे,  
 मोघो जातो महति सुतरामश्रुवीणा निनादः ।<sup>६५</sup>

मेघकुमार का विकास अन्तर्द्वन्द्व से होता है । वह प्रथमवार साधना-विमुख क्लीव की भांति सामने आता है लेकिन अन्त में उसी जीवन-सत्य में रमण करने लगता है जो संबोधिका को अभिप्रेत है । वह मोह-विजय, अज्ञान विजय और आत्मानुशासन की साधना कर महावीर बन जाता है । गुरु ने मार्ग दिखलाया, मेघकुमार अनवरत चलता रहा, साधना सिद्ध हुई, स्वयं में महावीरत्व प्रकट हो गया । मेघ और महावीर में द्वैत समाप्त हो गया, दोनों एक हो गए ।

संबोधि का एक-एक पद उसी परम लक्ष्य की व्याख्या में समर्पित है । आयुष्य की समाप्ति होने पर भवोपग्राही—वेदनीय, नाम गोत्र और आयुष्य कर्मों का सम्पूर्ण-तया नाश होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है जो शिव, अव्यय एवं परम आनन्द स्वरूप है—

भवोपग्राहिकं कर्म, क्षपयित्वाऽऽपुषः क्षये ।  
 सर्वदुःख प्रमोक्षं हि, मोक्षमेत्यव्ययं शिवम् ॥<sup>६६</sup>

मोक्ष सभी द्वंद्वों से मुक्त, सबसे प्रधान और श्रेष्ठ आह्लादक होता है । भगवान् महावीर मेघकुमार के उपदेश देते हुए कहते हैं—

मुखानामपि दुःखानां क्षयाय प्रयतो भव ।<sup>६७</sup>  
 लप्स्यसे तेन निद्वन्द्वं महानन्दमनुत्तरम् ॥  
 मननं जल्पनं नास्ति कर्म किञ्चिन्न विद्यते ।  
 विरज्यमानोऽकर्मात्मा, भवितुं प्रयतो भव ॥

विषय परित्याग से वैराग्य, इन्द्रियशांति, इन्द्रियशांति से मनस्वैर्य, मानसिक स्थिरता से विकारक्षीणता एवं वासनाविनाश होता है । स्वाध्याय ध्यान से विशुद्धि स्थिर होती है तथा अन्तःकरण प्रकाशित होता है अर्थात् परम आनन्द की उपलब्धि होती है ।<sup>६८</sup> वह निर्वाध सुख (परम आनन्द) ही शाश्वतमोक्ष है ।<sup>६९</sup> सभी कर्मों का पूर्णतया विनाश मोक्ष है—कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तो ।<sup>७०</sup> पुद्गलों का अग्रहण एवं गृहीत पुद्गलों का क्षय मोक्ष पद वाच्य है—

अस्वीकारः प्रक्षयो वा तेषां मोक्षो भवेदध्रुवम् ।<sup>७१</sup>

अप्रमत्त मुनि कर्मों के कन्धनों और उसके शुभ-अशुभ फलों का छेदन कर मोक्ष प्राप्त करता है—

शुभाशुभफलान्यत्र, कर्मणां बन्धनानि च ।  
छित्त्वा मोक्षमवाप्नोति, अप्रमत्तो हि संयतिः ॥<sup>११</sup>



### संदर्भ

१. अभिज्ञान शाकुन्तल, १.२२
२. एम विल्किंसन, निउ भोआयसेज, निउयार्क, १९२७ पृ० १४  
(M. wilkinson : New voices, Newyark, page 14)
३. अश्रुवीणा—श्लोक सं० ४
४. अतुलातुला, अप्पनिवेदणं, ८
५. " " पृ० ४, श्लोक संख्या ६
६. अश्रुवीणा, ३
७. संबोधि, ७.७-८
८. अतुलातुला, पृ० १९०
९. अश्रुवीणा, १
१०. नारदभक्ति सूत्र, गीताप्रेस, सूत्र सं० १८
११. नारदभक्ति सूत्र, गीता प्रेस पृ० २४ पर उद्धृत
१२. सर्वार्थसिद्धि, ६.२४.३३९.४
१३. अश्रुवीणा, १३
१४. भक्तामर स्तोत्र, १
१५. तत्रैव, १२
१६. अतुलातुला, आचार्य स्तुति, पृ० २०६, श्लोक सं० ८
१७. अतुलातुला, पृ० २०८, श्लोक १२
१८. रत्नपाल चरितम्, ३.७
१९. " " ३.९
२०. संबोधि, १५.३
२१. रत्नपाल चरित, १.३१
२२. आचारांग, १.२.५
२३. दशवैकालिक, ९.३.११
२४. सूत्रकृतांग, १.१२.१५
२५. रत्नपाल चरित, १.३१
२६. तत्रैव, १.३३
२७. संबोधि, २.२०
२८. धम्मपद, सम्पादक विनोबा, पृ० १६०
२९. श्रीमद्भगवद् गीता, २.१४
३०. संबोधि, ५.२
३१. यजुर्वेद, १२.३२
३२. तत्रैव, १६.३
३३. महाभारत आदि पर्व, ११.१३
३४. भक्त परिज्ञा, ९१
३५. आचारांग, १.५.५.५
३६. नन्दीसूत्र चूर्णि, ५.३८
३७. संबोधि, ७.३६
३८. तत्रैव, ७.३३
३९. संबोधि. ५.२
४०. " ५.७
४१. " ५.८
४२. " ५.११
४३. " ५.२३
४४. " ५.१६
४५. " ५.१८
४६. " ७.२
४७. " ७.३
४८. " ७.५
४९. " ७.६
५०. " ७.७
५१. अथर्ववेद, १२.१.२२
५२. ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३
५३. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, २३.१८
५४. परमात्म प्रकाश, २.३
५५. संबोधि, ३.६
५६. तत्रैव, ३.१०

५७. " ३.३२  
 ५८. " ११.२६  
 ५९. रत्नपाल चरित, १.१५  
 ६०. संबोध, १३.९  
 ६१. तत्रैव, १३.१०  
 ६२. रत्नपाल चरित, ५.३०  
 ६३. अश्रुवीणा, ९७  
 ७४. रत्नपाल चरित, ५.४८

६५. अश्रुवीणा, १००  
 ६६. संबोध, २.३७  
 ६७. तत्रैव, ३.४८, ४९  
 ६८. " ५.२८-३१  
 ६९. " ५.३८  
 ७०. " ६.१७  
 ७१. " ८.२  
 ७२. " ९.२३





## जैन दर्शन में लेश्या-एक विवेचन

□ प्रद्युम्न शाह सिंह

‘कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोप्रवृत्तिल्लेश्या’ कषाय से अनुरञ्जित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्या का सामान्य लक्षण है :—‘लिप्पइ अप्पी-कीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च । जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुण जाणयक्खाया । जह गेरुवेण कुट्टी लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण । तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह यत्तिलेव्वेण ।’<sup>२</sup> जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है, उसको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरु-मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं। ‘लिम्पतीति लेश्या’<sup>३</sup> जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं अर्थात् जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है वह लेश्या है। ‘अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषण कारी लेश्या ।’ प्रवृत्ति-शब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्’<sup>४</sup> अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। यहाँ लेश्या ‘प्रवृत्ति’ शब्द कर्म का पर्यायवाची है। जो जीव व कर्म का सम्बन्ध कराती हैं वह लेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम और कषाय के योग—ये सब लेश्या हैं।

लेश्या का तात्पर्य पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय-परिणाम, विचार से है। आत्मा चेतन है, जड़ स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार दशा में इसका जड़ द्रव्य-पुद्गल के साथ गहरा संसर्ग रखता है, इसीलिए जड़ द्रव्य जन्म परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे द्रव्य-लेश्या कहलाते हैं। कषाय से अनुरञ्जित जीव की मन, वचन, काया की प्रवृत्ति भाव लेश्या कहलाती है।

जैनागमों में शुक्ल-कृष्णादि छह रंगों द्वारा लेश्या का विवेचन किया गया है। इनमें से तीन लेश्याएं शुभ व तीन अशुभ होती हैं। राग व कषाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीवों को लेश्या नहीं होती। शरीर के रंग को द्रव्य-लेश्या कहते हैं। देव व नारकियों में द्रव्य व भाव-लेश्या समान होती है, अन्य जीवों में इसकी समानता का नियम नहीं है। द्रव्य-लेश्या आयु पर्यन्त एक सी रहती है पर भाव-लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है।

द्रव्य लेश्याएं पीद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण-रस, गंध-रस और स्पर्श होते हैं; लेश्याओं का नामकरण द्रव्य-लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है; जैसे कृष्ण लेश्या,

नील लेश्या आदि-आदि ।

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य  
सुककलेसा य छट्टा य, नामाहं तु जहक्कमं<sup>५</sup>

अर्थात् कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या । पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं, अन्तिम तीन प्रशस्त । प्रथम तीन के वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं । उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों गुण शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं । खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर प्रभाव होता है शरीर और मन दोनों परस्परापेक्ष है । इनमें एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता । जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किए जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है । व्यावहारिक जगत में भी यही बात मिलती है । प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों से सिद्ध जल का प्रयोग किया जाता है । योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि के तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है ।

द्रव्य लेश्या की सहायता से होने वाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है : मोहकर्म के उदय से तथा उसके उपशम क्षय या क्षयोपशम से । औदयिक भाव लेश्याएं अशुभ, अप्रशस्त होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयोपशमिक लेश्याएं शुभ, प्रशस्त होती हैं ।

‘तथो दुग्गइ गामिणिओ, तथो सुग्गइगामिणिओ’<sup>६</sup>

तदनुसार पहली तीस लेश्याएं अशुभ अध्यवसाय वाली हैं इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं । उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं । ‘उत्तराध्ययन सूत्र’ में इन्हें अधर्म लेश्या और धर्म लेश्या भी कहा गया है ।

पातञ्जल योग में वर्णित कैवल्य पाद में चतुर्विध कर्म का व्याख्यान किया गया है जो लेश्याओं के अध्ययन में विशेष दृष्टि देता है : ‘चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः— कृष्णा, शुक्ल कृष्णा, शुक्ला चैति । तत्र कृष्णा दुरात्मनाम । शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः । शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम् । सा हि केवले मनस्यायत्तत्वाद् बहिःसाधनाधीना न परान्पीडयित्वा भवति । अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीण क्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिनः एव फलसंन्यासादकृष्ण चानुपादानात् । इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति’<sup>६</sup>

कर्मजाति चार प्रकार की होती है— पापात्मक, पुण्यपापात्मक, पुण्यात्मक और पुण्यपापरहित । उनमें से दुरात्माओं की कर्मजाति पापात्मक होती हैं । बाह्यक्रियाओं से सम्पादित कर्मजाति पापात्मक होती है, उसमें दूसरों की पीड़ा और (उन पर) कृपा के द्वारा (पाप और पुण्य—दोनों प्रकार के) कर्म संस्कारों का संग्रह होता है । तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की कर्मजाति पुण्यात्मक होती है, क्योंकि वह मन के अधीन होने के कारण दूसरों को पीड़ा पहुंचाए बिना आन्तरिक साधन से सम्पादित होती है । पापपुण्यरहित कर्मजाति क्षीणक्लेश संन्यासियों (योगियों) अर्थात् अन्तिम

शरीर वालों (जीवन्मुक्तों) की होती है। इनमें से (यह चौथी कर्मजाति) योगियों के फल संन्यास के कारण पुण्यरहित और पापात्मक क्रियाओं को न अपनाने के कारण पापरहित होती है। अन्य समस्त जीवों की कर्मजाति तो पूर्वोक्त तीन प्रकार की होती है। ये तीन प्रकार कौन हैं? १. शुक्ल (पुण्य), २. कृष्ण (पाप) और ३. शुक्ल कृष्ण (पाप और पुण्य दोनों से युक्त)।

लेश्या हमारा एक दर्पण है, जिसमें व्यक्ति अपने आपको देख सकता है, अपने विचारों एवं भावनाओं को देख सकता है। सुकरात ने स्वयं के सम्बन्ध में कहा कि "मैं शीशे में यह देखता हूँ—मेरा चेहरा भद्दा है, पर मुझसे ऐसा कोई काम न हो जाये जिससे मेरा चेहरा और अधिक भद्दा बन जाय।" उक्त प्रसंग उन्होंने स्वयं उन पर हंस रहे शिष्यों को सुनाया था जिससे कि शीशा देखकर भी वे कुछ सीख सकें।

लेश्या से क्या तात्पर्य है, यह जान लेने के बाद अब विचार करना है कि लेश्या ज्ञान से लाभ क्या है।

यत्लेश्यो म्रियते लोकस्तल्लेश्यश्चोपपद्यते  
तेन प्रतिपलं मेघ ! जागरूकत्वमर्हसि ।<sup>६</sup>

भगवान महावीर मेघकुमार को यह उपदेश देते हुए कहते हैं :

यह जीव जिस लेश्या (भाव धारा) में मरता है, उसी लेश्या (उसी भावधारा की अनुरूप गति) में उत्पन्न होता है। इसलिए हे मेघ ! तू प्रतिपल जागरूक रह। जागरूकता के लिए योगिक क्रिया का सम्यक् ज्ञान व आचरण आवश्यक है। पातञ्जल योग के अनुसार योग के मुख्य आठ विभाग हैं यथा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गनि'। यहां प्रसंगवश योग के आठों अंगों की व्याख्या अपेक्षित नहीं है अतः हम ध्यान पर ही विचार केन्द्रित करेंगे। ध्यान के पक्ष में लेश्या ध्यान भी होता है।

लेश्या वानस्पतिक जीवों में भी होती है। वह पशु-पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है। इसलिए आभामण्डल भी प्राणिमात्र में होता है।<sup>७</sup> ध्यान और लेश्या में सम्बन्ध है। ध्यान ३ प्रकार का है :

१. आर्त्तध्यान—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा, कृष्ण नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला आभामण्डल।

२. रौद्र ध्यान—कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की प्रकृष्ट भावधारा, कृष्ण, नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला आभामण्डल।

३. धर्मध्यान—तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा, तेजस्, पद्म और शुक्ल वर्ण की प्रधानता वाला आभामण्डल।

शुक्ल और परमशुक्ल लेश्या की भावधारा, शुक्ल वर्ण का मनोज्ञतम आभामण्डल। भावधाराएं चैतन्य केन्द्र को प्रभावित करती है। चैतन्य केन्द्रों का यदि प्रयोग नहीं होता तो वे सुसुप्त रहते हैं। प्रायः हम यह देखते हैं कि शरीर के जिस चेतना केन्द्र का जितना प्रयोग होता है वह उतना ही सक्रिय रूप धारण करता है। इसलिए चैतन्य केन्द्रों की जानकारी रखना आवश्यक है। हमारे शरीर में अनेक चैतन्य केन्द्र

हैं। आर्त्त, रौद्रध्यान होता है तब अशुद्ध लेश्या होती है, इस स्थिति में चैतन्य केन्द्र सुप्त रहते हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान की अवस्था में लेश्या शुद्ध होती है। उस समय चैतन्य केन्द्र जागृत हो जाते हैं। चैतन्य केन्द्र हमारी चेतना और शक्ति की अभिव्यक्ति के स्रोत है। उन्हें जागृत करने की दो पद्धतियाँ हैं—

(१) विशुद्ध लेश्या की भावधारा द्वारा चैतन्य-केन्द्र अपने आप जागृत हो जाते हैं।

(२) चैतन्य-केन्द्रों पर अवधान नियोजित करने पर भी वे जागृत हो जाते हैं।

लेश्या जीव-अजीव के अनुमापक के रूप में भी प्रयोग की जा सकती है। जीव और अजीव के बीच में भेद रेखाएं की गयी हैं उसमें एक भेद-रेखा है लेश्या। लेश्या जीव में ही होती है अजीव में नहीं होती। इस नियम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिसमें लेश्या होती है वह जीव है और जिसमें लेश्या नहीं होती वह अजीव है। आभामण्डल केवल जीव में बनता है। प्रत्येक प्राणी के दो प्रकार के शरीर होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। तीसरा कारण शरीर भी कहा गया है। स्थूल शरीर रक्त, मांस, अस्थि आदि से निर्मित होता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित होता है। उसके इलेक्ट्रान स्थूल शरीर (ठोस शरीर) के इलेक्ट्रानों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से चलायमान होते हैं। इसीलिए सूक्ष्म शरीर और उसकी गतिविधि इन्द्रियगम्य नहीं होती। सूक्ष्म शरीर के दो प्रकार हैं—तैजस् शरीर और कर्मशरीर। प्राणी की प्राणशक्ति का मूल स्रोत तैजस् शरीर है। इससे प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। वह स्थूल शरीर, श्वास, इन्द्रिय, मन और वचन को संचालित करती है।<sup>१०</sup> मृत शरीर का आभामण्डल नष्ट हो जाता है। विषय विवेचन की अपेक्षा से वर्ण, रस गन्ध स्पर्श के आधार पर लेश्याओं का वर्गीकरण निम्न है :

कृष्णा नीला च कापोती, पाप लेश्या भवन्त्यभूः,

तैजसी पद्म शुक्ले च धर्मलेश्या भवन्त्यभू ॥

पाप लेश्याएं, कृष्ण, नील और कापोत तथा धर्म लेश्याएं, तैजस्, पद्म और शुक्ल के वर्ण रस गन्ध व स्पर्श निम्न प्रकार हैं :

कृष्ण—वर्ण—काजल के समान काला

रस—नीम से अनेक गुना कटु

गन्ध—मूस सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गन्ध

स्पर्श—गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश

नील—वर्ण—नीलम के समान नीला

रस—सौंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण

कापोत—वर्ण—कबूतर के गले के समान रंग

रस—कच्चे आम के रस से अनन्त गुण तिक्त

विशेष—गन्ध और स्पर्श इन तीनों पाप लेश्याओं का गुण धर्म समान है।

तेज वर्ण—हिगूल-सिंदूर के समान रक्त।

रस—पके आम के रस अनन्तगुण मधुर।

गन्ध—सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध।

स्पर्श—नवनीत मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार ।

पद्म वर्ण—हल्दी के समान पीला ।

रत्न—मधु से अनन्तगुण मिष्ट ।

शुक्ल वर्ण—शंख के समान सफेद ।

रस—मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट ।

विशेष—तीनों की गन्ध व स्पर्श लेश्याएं एक समान हैं ।<sup>११</sup>

तीन पाप लेश्याओं तथा तीन पुण्य लेश्याओं को आचार्य महाप्रज्ञ ने इस प्रकार वर्णित किया है ।

तीव्रारम्भ-परिणतः, क्षुद्रः साहसिकोऽयतिः,

पञ्चास्रव-प्रवृत्तश्च, कृष्णलेश्यो भवेत् पुमान्, १६।२३

इष्यालुद्वेषमापन्नो, गृद्धिमान् रसलोलुपः,

अह्नीकश्च प्रमत्तश्च, नीललेश्यो भवेत् पुमान्, १६।२४

वक्रो वक्रसमाचारो, मिथ्या दृष्टिश्च मत्सरी,

औपधिको दुष्टवादी, कापोतीमाश्रितो भवेत्, १६।२५

विनीतोऽचपलोऽमायी, दान्तश्चावद्यभीरुकठ,

प्रियधर्मा दूद्धर्मा, तैजसीमाश्रितो भवेत् । १६।२६

तनु तम क्रोध-मान-माया-लोभो जितेन्द्रियः,

प्रशान्तचित्तोदान्तात्मा, पद्मलेश्यो भवेत् पुमान् । १६।२७

आर्तरीन्द्र वर्जयित्वा, धर्म्यं शुक्ले च साधयेत्,

उपशान्तः सदागुप्तः शुक्ललेश्यो भवेत् पुमान् । १६।२८<sup>१२</sup>

वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा रंगों की प्रकृति पर काफी विचार किया गया है ।

नाम	प्रकृति	नाम	प्रकृति
लाल	गर्म	हल्का गुलाबी	गर्म
नारंगी	गर्म	बादामी	गर्म
लाल नारंगी	बहुत गर्म	हरा	गर्म
पीला	गर्म किन्तु लाल नारंगी से कम,		
नीला	न अधिक गर्म, न अधिक ठण्डा		

गहरा नीला या आसमानी— ठण्डा,

शुभ (बन फशी) न गर्म न ठण्डा

इन रंगों में नारंगी लाल रंग के परिवार का रंग है । बैंगनी और जामुनी रंग के परिवार के हैं ।

लाल रंग, स्नायुमण्डल को स्फूर्ति देता है । नीला रंग, स्नायविक दुर्बलता, धातु-क्षय, स्वप्न-दोष में लाभ पहुंचाता और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देता है । पीला रंग, मस्तिष्क की शक्ति का विकास कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगों को शान्त करने में उपयोगी है । हरा रंग ज्ञान तन्तुओं और स्नायु-मण्डल को बल देने में, वीर्य रोग में उपयोगी है । गहरा नीला रंग गर्मी की अधिकता से होने वाले आभाशय सम्बन्धी

रोगों के उपशम में उपयोगी है। शुभ्र रंग नींद के लिए उपयोगी है। बैंगनी रंग शरीर के तापमान को कम करने के लिए उपयोगी है।

रंगों का प्रभाव मन पर भी पड़ता है, जैसे काला रंग मनुष्य में असंयम, हिंसा और क्रूरता के विचार उत्पन्न करता है। नीला रंग मनुष्य में ईर्ष्या असहिष्णुता, रस-लोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है। कापोत रंग मनुष्य में वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है। अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म प्रेम उत्पन्न करता है। पीला रंग मनुष्य में शान्ति, क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रियविजय का भाव उत्पन्न करता है। सफेद रंग मनुष्य में गहरी शान्ति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

विचारों का भी रंगों से तालमेल है जो इस प्रकार है। भक्ति विषयक रंग आसमानी है। लाल रंग कामोद्वेग विषयक है। पीला रंग, तर्क-वितर्क विषयक है। गुलाबी रंग प्रेम विषयक है। हरा रंग स्वार्थ विषयक है। लाल-काले रंग का मिश्रण क्रोध विषयक है।<sup>13</sup>

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में स्पष्ट है लेश्या द्विधा, द्रव्य लेश्या भाव लेश्या चेति। लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या शरीरनामोदयापादिता द्रव्य-लेश्या। शरीर-नाम कर्मादय से उत्पन्न द्रव्य लेश्या होती है।

वण्णोदयेण जणिदो सरोरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।<sup>14</sup>

वर्णनाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्ण है उसको द्रव्य लेश्या कहते हैं।<sup>14</sup>

भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते। भाव-लेश्या कषाय के उदय से अनुरञ्जित योग की प्रवृत्ति रूप है, इस लिए वह औदयिकी कही जाती है। लेस्सा. मोहोदयखओ व समोवसमख य जजीवफंदणं भावो।<sup>15</sup>

मोहनीय कर्म के उदय. क्षयोपशम उपसम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जो जीव का स्पन्दन है सो भाव लेश्या है। उचित रंगों के ध्यान से हम कषाय व राग के प्रभाव को शनैः शनै समाप्त कर सकते हैं। भावधारा को निर्मूल कर सकते हैं।

### अलेश्या के लक्षण

किण्हाइलेसरहिया संसारविणिरगया अणंतमुहा। सिद्ध पुरी संपत्ता असेलिया ते मुणेयव्वा।<sup>16</sup> जो कृष्णादि छहों लेश्याओं से रहित है. पंच परिवर्तन रूप संसार से विनिर्गत है, अनन्त सुखी है, और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धि पुरी को सम्प्राप्त है, ऐसे अयोगिकेवली और सिद्ध जीवों को अलेश्य जानना चाहिए।

भगवान् महावीर ने जिस लेश्या सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह दो धाराओं में चलता है। एक धारा है भाव की दूसरी धारा है रंग की। भाव और रंग—इन दोनों का योग ही लेश्या का सिद्धांत है। यह सिद्धान्त अध्यात्म की दिशा में बहुत महत्त्व का है।<sup>17</sup>

हम शुभ भावना करते हैं तब शुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे हमारे आभामण्डल को निर्बल बनाते हैं। भय शोक ईर्ष्या आदि के द्वारा अनिष्ट पुद्गलों का

ग्रहण होता है, उनसे शरीर और आभामण्डल दोनों विकृत होते हैं ।

लाल रंग का ध्यान करने से शक्ति-केन्द्र (मूलाधार) औद दर्शन केन्द्र (आज्ञा चक्र) —ये चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं । पीले रंग का ध्यान करने से आनन्द केन्द्र (अनाहद चक्र) जागृत होता है । श्वेत रंग का ध्यान करने से विशुद्धि केन्द्र (विशुद्धि-चक्र), तैजस्-केन्द्र (मणिपूर-चक्र) और ज्ञान केन्द्र (सहस्रार चक्र) जागृत होते हैं ।

श्वेत रंग ठंडा होता है । वह सूर्य से प्राप्त होने वाले जीवन तत्त्व और बल को शरीर तक पहुंचाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता । लाल रंग गर्मी बढ़ाने वाला है । जिसके शरीर में रक्त की गति मंद हो उसके लिए लाभदायक है । किन्तु जिसके ज्ञान तन्तु दुर्बल हों उसके लिए यह लाभ-कारक नहीं है जो तुरन्त थक जाता है वह खिन्न रहता है उसके लिए यह रंग बहुत उपयोगी है । पीला रंग भी गरमी बढ़ाने वाला है, उससे ज्ञान तन्तु जागृत होते हैं—स्वस्थ रहते हैं । काला रंग सूर्य की रश्मियों को स्वयं आकर्षित कर लेता है । नीला रंग शीत प्रकृति का होता है इससे जीवन शक्ति प्राप्त होती है । इसमें विद्युत्-शक्ति है यह पौष्टिक और शान्ति देने वाला है ।

### रंग और मनोभाव

रंगों के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है । जिसे आसमानी रंग पसन्द होता है वह बोलने में दक्ष-सहृदय और गम्भीर होता है । वह मनोविकार, उत्साह आदि वृत्तियों पर नियंत्रण पा लेता है । जिसे पीला रंग पसंद हो वह विचारक और आदर्शवादी होता है । लाल रंग को पसन्द करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान, सहिष्णु और व्यवहार कुशल होता है । काले रंग को पसन्द करने वाला दीन भावना से घिरा होता है । श्वेत रंग को पसन्द करने वाला सात्त्विक वृत्ति और सात्त्विक भावना का होता है । सूर्य का रंग पारे के समान श्वेत, चन्द्रमा का रंग चांदी के समान रूपहला, मंगल का तांबे के समान लाल, बुध का हरा, बृहस्पति का सोने के समान पीला, शुक्र का नील, शनि का आसमानी राहु का काला, केतु का आसमानी रंग इनकी किरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव होसा है । उसकी किरणों के साथ मंगल आदि दूसरे ग्रहों की किरणें मिल जाती हैं तब उनका प्रभाव दूसरे प्रकार का होता है । प्रत्येक रंग के अनेक पर्याय होते हैं, प्रत्येक पर्याय के गुण और प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं निर्मल भावना ध्येय और उसके अनुरूप रंगों का चयन कर अनेक मानसिक समस्याओं को सुलभाया जा सकता है । रंगों का शरीर के केन्द्र स्थलों पर कैसे ध्यान करें इसका वर्णन निम्न है ।

(१) आनन्द केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान—अनुभव करें—अपने चारों ओर पन्ने (धातु) की भांति चमकते हुए हरे रंग का प्रकाश फैल रहा है, हरे रंग के परमाणु फैल रहे हैं । अब इस हरे रंग का श्वास लें । पुनः अनुभव करें—प्रत्येक श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं । चित्त को आनन्द केन्द्र पर केन्द्रित करें वहां चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें । अनुचितन करें 'भावधारा निर्मल हो रही है' इस वाक्य का भावना के साथ मनन करें ।

(२) विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान—ध्यान करें कि अपने चारों ओर



नीले रंग का प्रकाश फैल रहा है। अब इसी रंग का श्वास लें। चित्त को विशुद्धि केन्द्र पर केन्द्रित करें और नीले रंग का ध्यान करें। नीले रंग से भरे हुए आभामण्डल को देखें और अनुभव करें 'वासनाएं अनुशासित हो रही हैं'... इस वाक्य का पूर्णभाव के साथ नौ बार मनन करें।

(२) दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान—ध्यान साधें दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग का प्रकाश फैल रहा है। धीरे-धीरे पूरा आभामण्डल अरुणमय हो गया है। श्वास लेते समय अनुभव करें कि अरुण रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को दर्शनकेन्द्र पर केन्द्रित करें। अनुचिन्तन करें—'अन्तर्दृष्टि जागृत हो रही है'... इस वाक्य का नौ बार मनन करें।

(४) ज्योति केन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान—अनुभव करें अपने चारों ओर श्वेत रंग का प्रकाश फैल रहा है। तथा आभामण्डल श्वेत रंग के परमाणुओं से भर रहा है। प्रत्येक श्वास के साथ श्वेत रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को ज्योति केन्द्र पर केन्द्रित कर वहाँ श्वेत रंग का ध्यान करें। अनुभव करें, 'आवेग और आवेश शान्त हो रहे हैं'... इस वाक्य को नौ बार मनन करें।

(५) ज्ञान केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान—अनुभव करें पीले रंग का प्रकाश शरीर के चारों ओर फैल रहा है। प्रत्येक श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को ज्ञान केन्द्र पर केन्द्रित करें वहाँ पर चमकते हुए पीले रंग का ध्यान करें। अनुचिन्तन करें 'ज्ञान तंतु विकसित हो रहे हैं'... इस प्रकार का मनन नौ बार करें।

मानव शरीर में उपरोक्त पांच केन्द्रों का विवरण इस प्रकार है : (१) आनन्द केन्द्र (हृदयस्थल), २. विशुद्धि केन्द्र (कंठस्थल), ३. दर्शन केन्द्र (भ्रुकुटियों का मध्यस्थल) ४. ज्योति केन्द्र (ललाट स्थल) ५. ज्ञान केन्द्र (सिर का शीर्ष स्थल)।

### वैज्ञानिक निष्कर्ष

अणु-आभा वैज्ञानिक डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने इस विषय का बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पर्श किया है। उनके अनुसार अनेक अशिक्षित लोगों के अणुओं में प्रकाश रसायन प्राप्त हुए। साधारणतः उन्हीं को लोग सच्चरित्र और धार्मिक मानते हैं जो ऊँचे घरानों में जन्म लेते हैं, गरीबों में धन बांटते हैं तथा प्रातः सायं उपासना आदि नित्य-कर्म करते हैं। परन्तु उनके अन्दर काले अणुओं का बाहुल्य था इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ़, गंवार तथा बाह्य रूप में भद्दे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले हैं जिनमें प्रकाशाणुओं की शरथरियों को उनकी आभा में स्पष्ट रूप से देखा गया। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओं का विकास कई वर्ण के सतत् परिश्रम और इन्द्रियों के नियंत्रण के पश्चात् हो पाता है परन्तु उक्त लोगों में अनजाने ही प्रकाशाणुओं को प्राप्त कर लिया था।<sup>३०</sup> इस प्रकार दो श्रेणियों के लोगों का परीक्षण करने से यह बात स्पष्ट हुई कि धन सम्पत्ति प्राचुर्य के कारण व्यक्ति प्रशस्त शुभ लेश्याओं का भी धनी हो यह निश्चित नहीं। धन व्यक्ति को अति उपभोगवादी भी बना सकता है। सच्चरित्र आचरण का विषय है, धन उसका गौण साधन हो सकता

है। प्रचलित कहावत है “जैसा अन्न वैसा मन” शुद्धाहार एवं एक अन्नाहार प्रशस्त लेश्या के विकास के लिए आवश्यक है। लेश्या एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना चेहरा देख सकता है। आचार विचार और व्यवहार सबका प्रतिबिम्ब लेश्या के दर्पण में देखा जा सकता है।

आज लेश्या का सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। ज्ञान का अर्थ मात्र पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है वह ज्ञान जो आत्मसमुत्थ है, आत्मा से उपजता है उसका सम्बन्ध लेश्या के साथ है। लेश्या शुद्ध होगी तो ज्ञान होगा, लेश्या (भावना) अशुद्ध होगी तो ज्ञान पैदा नहीं होगा। जैन आगमों में कहा गया है :

‘जज्जलेसे मरई तल्लेसे उवज्जई ।’

अर्थात् जिस लेश्या में मरेगा उसी लेश्या में पैदा होगा। इस प्रकार जैन दर्शन में लेश्या का सिद्धान्त बहुत व्यापक रहा है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यह कहा जा सकता है : “पार्श्व की परंपरा से जो लेश्या का सिद्धान्त चला आ रहा था उसे महावीर ने अपनाया।” वस्तुतः पूर्वों का ज्ञान इतना विशाल था कि उसमें दुनिया का सारा ज्ञान समाविष्ट था। हालांकि हर दर्शन परम्पराओं में रंगों का वर्णन मिलेगा क्योंकि रंगों को छोड़कर कोई शास्त्र चल नहीं सकता। प्रत्येक शास्त्र में रंगों के आधार पर कुछ न कुछ कहा गया है किन्तु लेश्या का जितना विकास जैन परम्परा में हुआ है उतना किसी अन्य परम्परा में नहीं हुआ।

## संदर्भ

१. धवला पुस्तक सं०-१/खण्ड संख्या-१, भाग-१, सूत्र-४/पृ० १८५/गाथा सं० ८
२. पंचसंग्रह, प्राकृत अधिकार संख्या १/गाथा सं० १४२-१४३
३. धवला पुस्तक सं०-१/खण्ड सं०-१, भाग-४/पृ० १४९, गाथा सं०-६
४. उत्तराध्ययन— ३४ वां अध्यायन, १३वीं गाथा
५. प्रवचनसार
६. पातञ्जल योग, कैवल्यपाद, व्यास भाष्य ७
७. अपना दर्पण : अपना बिम्ब, आचार्य महाप्रज्ञ; पृष्ठ १५०-५५ के बीच
८. संबोधि, आचार्य महाप्रज्ञ, कारिका, १६-१९
९. जैन योग, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ० १३५
१०. वही, पृष्ठ-१३४
११. जैन सिद्धान्त दीपिका
१२. संबोधि, आचार्य महाप्रज्ञ, १६।२३ से १६।२८ तक
१३. संबोधि, आचार्य महाप्रज्ञ, अध्याय १६, पृष्ठ-३७९
१४. राजवार्तिक अध्याय सं०-९/सूत्र सं०-७/पृष्ठ सं०-११/पंक्ति सं० ६०४

१५. गोम्मटसार, जीव खण्ड, मूल/४९४ गाथा  
१६. सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं० २/सूत्र सं०-६/पृ० सं० १५९  
१७. गोम्मटसार जीवकाण्ड, मूल, गाथा सं० ५३६/पृ० सं० ९३१  
१८. पंच संग्रह, प्राकृत, अधिकार सं० १/गाथा संख्या १५३  
१९. अपना दर्पण : अपना बिम्ब, पृष्ठ सं० १५१  
२०. जैन योग

# अनेकान्तवाद व नयवाद का दार्शनिक स्वरूप

□ अनिल कुमार धर

धर्म और दर्शन अनादिकाल से चले आये हैं। इस धरातल पर अनेक धर्मों और दर्शनों का अस्तित्व सदा से रहा है। धर्म और दर्शन का अस्तित्व परमावश्यक भी है क्योंकि धर्म मनुष्य को नैतिक बनाता है और दर्शन विचारवान।

भारत में जैनधर्म, बौद्धधर्म, वैदिक आदि विविध धर्मों का तथा इनके विविध दर्शनों का सद्भाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दर्शन दो भागों में विभक्त है—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक दर्शन ६ हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। अवैदिक दर्शन तीन हैं—जैन, बौद्ध और चार्वाक। प्रत्येक दर्शन के अपने-अपने विशेष सिद्धान्त हैं। जैनदर्शन में अनेकान्त दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

## ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भगवान् महावीर के पूर्व भारत भूमि पर वैचारिक संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर था। जैनागमों<sup>१</sup> के अनुसार उस समय ३६३ और बौद्धागमों<sup>२</sup> के अनुसार ६३ दार्शनिक मत प्रचलित थे। जैन परम्परा में इन ३६३ दार्शनिक सम्प्रदायों को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया था :—

१. क्रियावादी—जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्ता, भोक्ता मानते थे।
२. अक्रियावादी—जो आत्मा को अकर्ता मानते थे,
३. विनयवादी—जो आचार नियमों पर अधिक बल देते थे,
४. अज्ञानवादी—इनकी मान्यता यह थी कि ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, अतः अधिक जिज्ञासा में न उतर कर विवाद-पराङ्मुख रहना तथा अज्ञान को ही परम श्रेय मानना चाहिए।<sup>३</sup>

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में जो दो महापुरुष आये, वे थे—भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध। बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद-पराङ्मुखता को अपनाया, किन्तु उससे मानवीय जिज्ञासा का सम्यक् समाधान नहीं हो पाता था। जबकि उस युग का जनमानस एक विधायक हल की अपेक्षा कर रहा था। दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में वह सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां और किस रूप में उपस्थित है। क्योंकि उसके सन्मुख प्रत्येक मतवाद एक दूसरे के खण्डन में ही अपनी विद्वता की इतिश्री मान रहा था। ऐसी परिस्थिति में भगवान् महावीर विरोध समन्वय की एक

विधायक दृष्टि लेकर आये। इस विचार संकुलता के युग में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आग्रह, मतान्धता या एकांत ही मिथ्यात्व है।<sup>१</sup>

सूत्रकृतांग में उल्लेख है कि जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं, वो एकान्तवादी संसार चक्र में भटकते रहते हैं।<sup>२</sup> भगवान् महावीर ने बताया कि आग्रह ही सत्य का बाधक तत्व है। आग्रह राग है और जहां राग है वहां सम्पूर्ण सत्य का दर्शन संभव नहीं। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। आग्रह युक्त या मतांधदृष्टि उसे देख नहीं पाती है और यदि देखती है तो उसे अपने दृष्टिराग से दूषित करके ही। आग्रह या दृष्टिराग से वही सत्य असत्य बन जाता है, अनाग्रह या सम्यक् दृष्टि से वही सत्य सत्य के रूप में प्रकट हो जाता है। दूसरों के सत्यों को झुठलाकर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य विवाद से नहीं विवाद के समन्वय से प्रकट होता है।<sup>३</sup>

### दार्शनिक पृष्ठभूमि

पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमताओं से युक्त मानव प्राणी के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से अधिक आगे नहीं जा पाये हैं, और जब इसी आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो विवाद एवं वैचारिक संघर्षों का जन्म हो जाता है। सत्य न केवल उतना है जितना कि हम जानते हैं, अपितु वह एक व्यापक पूर्णता है। उसे तर्क, विचार, बुद्धि और वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता, वह तो इनसे परे है। कठोपनिषद् में उसे बुद्धि और तर्क से परे माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में उसे मेधा और श्रुति से अगम्य कहकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। आचारांग में भी उसे शब्द, वाणी और तर्क से अगोचर कहा गया है। इसी प्रकार के भाव बौद्ध विचारक चन्द्रकीर्ति ने भी प्रकट किये हैं। पाश्चात्य विचारक लॉक, कांट, वेडले और बर्गसा आदि ने भी सत्य को तर्क या विचार की कोटी से परे माना है।<sup>४</sup>

वस्तुतः हमारी ऐन्द्रिय-क्षमता, तर्कबुद्धि, विचार-क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण है कि वे सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं है। मानव-बुद्धि सम्पूर्ण सत्य को नहीं केवल उसके एकांश को ग्रहण कर सकती है। मात्र इतना ही नहीं, वस्तुतत्त्व में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं। और ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। समयसार में इसी का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि—‘जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस कारण एक ही वस्तु के वस्तुत्व के कारणभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन अनेकांत है।<sup>५</sup>

देवागम-अष्टशती कारिका में इसी को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है नित्य ही है अथवा अनित्य ही है। इस प्रकार सर्वथा एकांत के निराकरण करने का नाम अनेकांत है।<sup>६</sup>

अनेकांत का एक सूत्र है—सह-प्रतिपक्ष। केवल युगल ही पर्याप्त नहीं है,

विरोधी युगल होना चाहिए। समूची प्रकृति में, व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। हमारा जीवन विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। शरीर की रचना, प्रकृति की रचना, परमाणु की रचना या विद्युत् की रचना सब में विरोधी तत्व काम कर रहे हैं। अनेकांत का मूल आधार है—विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकांत दृष्टि का मुख्य कार्य एकांत या आग्रह बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही दृष्टि को प्रकट करना है। अनेकांत दर्शन यह बतलाता है कि वस्तु में सामान्यतः विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्त धर्म रहते हैं। किन्तु प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है, यह प्रतिपादन करना ही अनेकांत दर्शन का विशेष प्रयोजन है।”

यथार्थ में अनेकांत पूर्णदर्शी है और एकांत अपूर्णदर्शी है। एकांत मिथ्या अभिनिवेश के कारण एक अंश को ही पूर्ण सत्य मान लेना विवाद की जड़ है। इसी कारण एक मत का दूसरे मत से विरोध ही जाता है। लेकिन अनेकांत उस विरोध का परिहार कर उनका समन्वय करता है। एकांत दृष्टि कहती है कि तत्व ऐसा ‘ही’ है और अनेकांत दृष्टि कहती है कि तत्व ऐसा ‘भी’ है। यथार्थ में सारे भगड़े या विवाद ‘ही’ के आग्रह से उत्पन्न होते हैं। विवाद वस्तु में नहीं अपितु देखने वाले की दृष्टि में है।

## नयवाद

नयवाद अनेकांत का ही प्रारम्भिक रूप है। जिज्ञासा या सत्याभीप्सा अपूर्ण मानव की एक सहज वृत्ति है। अपनी इस जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए मानव के पास दो साधन हैं

१. इन्द्रियां
२. तर्क-बुद्धि

मानव अपने सीमित साधनों के द्वारा तत्त्वों को जानने का प्रयास करता है। मानव मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति से सन्तुष्ट नहीं होता है। वह उस प्रतीति के पीछे भी भांकना चाहता है। वस्तु तत्त्व के दृश्य स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर उसके सारतत्त्व को समझने का प्रयास करना यह मानवीय बुद्धि का नैसर्गिक गुण है। ज्ञान प्राप्त के इन दो साधनों के आधार पर मानवीय ज्ञान भी विविध होता है। एक वह जो इन्द्रियानुभूति या प्रतीति है और दूसरा वह जिसका निश्चय तर्क-बुद्धि करती है। जिन दार्शनिकों ने ज्ञान की इन दो विधाओं में से किसी एक की अवहेलना की उनका ज्ञान ‘सत्य’ की एक सर्वांगीण व्याख्या दे पाने में असमर्थ रहा।

जैन-दर्शन के अनुसार इन्द्रियानुभूति बुद्धि और वाणी सभी अपनी सीमितताओं के कारण अनन्त या पूर्ण के एकांश को ही ग्रहण या प्रकट कर पाती है, यही एकांश का बोध नय कहलाता है।”

नयों के द्विविध और सप्तविध विवेचन बहु-प्रचलित है :

## निश्चय और व्यवहार नय

आचार्य अमृतचन्द्र ने निश्चय नय को आत्माश्रित और व्यवहार नय को पराश्रित

माना है।<sup>१३</sup> दूसरे शब्दों में वस्तुतत्त्व की स्वभाव दशा को निश्चय नय और विभाव दशा को व्यवहार नय का विषय माना गया है। वस्तुतत्त्व के युक्ति-सिद्ध बौद्धिक स्वरूप को निश्चय नय और व्यवहार नय वस्तुतत्त्व के ऐन्द्रिक या प्रतीकात्मक स्वरूप का विवेचन करता है।

सत्त्व उतना ही है जितना वह हमें इन्द्रियों के माध्यम से प्रतीत होता है और न उतना ही जितना कि बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है। वस्तुतः नयों का यह विवेचन न केवल जैन-दर्शन में ही स्वीकृत रहा है अपितु अनेक दर्शनों में उसे स्वीकृत किया गया है। बौद्ध दर्शन में इसे नैय्यार्थ सूत्र और नीतार्थ सूत्र के रूप में, विज्ञानवाद में परिनिष्पन्न और परतंत्र के रूप में, शून्यवाद में लोक-स्मृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में, तथा शंकर के दर्शन में परमार्थ और व्यवहार के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों में 'हेरोक्लाइटस' ने केटो और एने के रूप में, 'परमेनीडीज' ने मत और सत्य के रूप में, 'सुकुरात' ने जगत और आकार के रूप में, 'प्लेटो' ने संवेदन और प्रत्यय के रूप में, 'स्पिनोजा' ने पर्याय और द्रव्य के रूप में, 'कांट' ने प्रपंच और वस्तुतत्त्व के रूप में, 'हीगल' ने विपर्यय और निरपेक्ष के रूप में तथा 'ब्रेडले' ने आभास और सत् के रूप में, प्रकारान्तर से इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। भले ही इनमें नामों की भिन्नता रही हुई हो, किन्तु उमका मन्तव्य वही है जो कि जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार के रूप में प्रकट किया गया है।<sup>१४</sup>

## सप्त नय

जैन दार्शनिकों ने प्रकारान्तर से सप्त नय भी माने हैं, वे हैं :

- (१) नैगसनय
- (२) संग्रहनय
- (३) व्यवहारनय
- (४) ऋजुसूत्रनय
- (५) शब्दनय
- (६) समभिरुद्धनय
- (७) एवंभूतनय

वस्तुतः ये सातों नय वस्तुतत्त्व के स्वरूप प्रतिपादन की विविध दृष्टियाँ ही हैं। जैसे नैगसनय वस्तुतत्त्व के सामान्य और विशेष पक्षों पर समान रूप से बल देता है, संग्रहनय वस्तु के सामान्य पक्ष या अभेद पक्ष, व्यवहारनय उसके विशेष या भेद पक्ष पर बल देता है। इसी प्रकार शेष चार नय भी शब्दों के अर्थ निश्चय करने में विविध दृष्टि-बिन्दुओं का आश्रय लेते हैं।<sup>१५</sup> सप्तनय की और अधिक विस्तार से निम्न चर्चा की गई है :

## नैगसनय

सामान्य और विशेष दोनों इसके विषय हैं। ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं। नैगसनय दोनों की एकाश्रयता का साधक है तथा बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करने वाला है। नैगसनय जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है।<sup>१६</sup>

## संग्रह और व्यवहार नय

संग्रहनय केवल सामान्य अंश का ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेष अंश का। ये दोनों क्रमशः अभेद और भेद को मुख्य मानकर इनकी वास्तविकता का समर्थन करने वाली दृष्टियां हैं।<sup>15</sup>

## ऋजुसूत्र नय

यह वर्तमान परक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं करती। अर्थक्रिया में समर्थ होना और प्रमाण का विषय बनना, ये बातें वार्तमानिक वस्तु में ही मिलती है।<sup>16</sup>

## शब्दनय

शब्दनय भिन्न-भिन्न लिंग, वचन आदि युक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है।<sup>17</sup>

## समभिरुद्धनय

एक वस्तु का दूररी वस्तु में संक्रमण नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। समभिरुद्ध का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु जहां आरुद्ध है, उसका वहीं प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बहुत उपयोगी है। नियामकता या सच्चाई ही इसकी मौलिकता है।<sup>18</sup>

## एवंभूतनय

एवंभूतनय शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर बल देकर, उस समय उस विशिष्ट लक्षण से युक्त होने पर ही उस पदार्थ को उस शब्द से वाच्य मानता है। जैसे अध्ययन कराते समय ही अध्यापक को अध्यापक कहना, अन्यथा नहीं।<sup>19</sup>

जब किसी वस्तुतत्त्व का अर्थ निश्चित करने में हम इन दृष्टिकोणों की उपेक्षा कर देते हैं तो हमारा ज्ञान भ्रान्त और विरोधी बन जाता है, किन्तु जब हम इन विविध पक्षों पर ध्यान देते हैं तो वही ज्ञान समन्वयात्मक और यथार्थ बन जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु या अनेकांत का प्रतिपादन करने वाले साधन या उपाय को स्याद्ववाद कहा जाता है।

## स्याद्ववाद

अनेकांतवाद और स्याद्ववाद को यद्यपि पर्यायवादी मान लिया जाता है, किन्तु दोनों में अन्तर है। अनेकांत एक व्यापक विचार पद्धति है और स्याद्ववाद उस विचार पद्धति की अभिव्यक्ति का निर्दोष मार्ग है। अनेकान्तवाद दर्शन है और स्याद्ववाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग है। स्याद्ववाद अनेकांत का एक विधायी पहलू है। 'स्यात्' शब्द 'अपेक्षा' का या 'कथन' की। 'आंशिक सत्यता' का सूचक है। अनेकांतवाद के द्वारा वस्तुतत्त्व के जिन अनन्त धर्मों का बोध होता है, उनमें से किसी एक धर्म को दूसरे धर्मों का प्रतिषेध किये बिना प्रस्तुत करना ही स्याद्ववाद है। स्याद्ववाद अपेक्षा का



प्रतिपादन करता है।<sup>३१</sup>

दूसरों के कथनों का विरोध नहीं करते हुए अपने कथनों में 'भी' का प्रयोग करते हुए अपनी बात कह लेने का एक सुन्दर ढंग है स्याद्ववाद। स्याद्ववाद बताता है कि अपनी बात को इस ढंग से कहो कि वह विवाद को जन्म न दे, अपितु विवादों में समन्वय कर दे। समन्वयात्मक दृष्टि से अविरोधपूर्वक अपनी बात कहना ही स्याद्ववाद है।

### वर्तमान युग में अनेकांत दर्शन की प्रासंगिकता

अनेकांत दर्शन विचारों की शुद्धि करता है। वह मानव के मस्तिष्क से दूषित दृढमूर्ण विचारों को दूर कर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए प्रत्येक मनुष्य का आह्वान करता है। वह कहता है कि वस्तु विराट है, अनन्त-धर्मात्मक है। अपेक्षा भेद से वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। उन अनेक धर्मों से प्रत्येक धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। वे सब एक ही वस्तु में बिना किसी वैरभाव के रहते हैं। विरोधी होते हुए भी वे विरोध का अवसर नहीं आने देते।<sup>३२</sup>

यदि संसार के राजनीतिज्ञ भी अनेकांत के स्वरूप को ठीक तरह से समझ लें तो बहुत कुछ संभव है और संसार में युद्धों का नग्न नृत्य देखने को न मिले। क्योंकि अनेकांत से विरोधी धर्म समन्वय की तरह मानव समता का भी बोध हो सकता है और मानव समता का ज्ञान होने से आपसी विवादों का अन्त होना संभव है। इसलिए वस्तु स्थिति का ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाले अनेकांत दर्शन की संसार को अत्यन्त आवश्यकता है।

### आधुनिक विज्ञान और अनेकांत

स्याद्ववाद का अर्थ है—सम्भावनाओं को स्वीकार करना। आज के वैज्ञानिकों ने स्याद्ववाद का अर्थ—सम्भावना किया है तथा अपनी खोजों के माध्यम से अनेकांत की पुष्टि की है। विज्ञान ने इस तथ्य को भली-प्रकार सिद्ध कर दिया है कि जिस पदार्थ को हम स्थित, नित्य और ठोस समझते हैं, वह पदार्थ बड़े वेग से गतिशील है, न केवल गतिशील है वरन् परिवर्तनशील भी है। आज का प्रबुद्ध वैज्ञानिक भी ऐसा दावा नहीं करता है कि उसने सृष्टि का रहस्य और उसके वस्तुतत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त लिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्सटीन ने कहा था कि 'हम तो केवल सापेक्षिक सत्यों को जान सकते हैं, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तो कोई पूर्ण दृष्टा ही जान सकेगा।' इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टियों से सामान्य मानवबुद्धि निरपेक्ष पूर्ण सत्य को जानने में असमर्थ है। अनेकांत विचार दृष्टि हमें यही बताती है कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो सापेक्षिक सत्य अपेक्षा भेद से सत्य हो सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेकांत का अर्थ है, सह-अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता, सहिष्णुता आदि। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेकांत किस तरह दृष्टिकोण परिवर्तन में सहायक होकर संघर्ष-निवारण में सहायक बन सकता है इसका उदाहरण पारिवारिक, धार्मिक व राजनैतिक क्षेत्रों पर हुई चर्चा में मिलेगा।

## पारिवारिक जीवन में अनेकांत दृष्टि का उपयोग

समाज की विभिन्न इकाइयों में परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। अनेकांत दृष्टि का प्रयोग पारिवारिक कलह का शमन करने में सहायक हो सकता है। पारिवारिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर परिवारों में और परिवार के सदस्यों में संघर्ष टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करता है। सामान्यतः पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं। पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है जबकि पुत्र की तर्क-प्रधान। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ-पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा होती है कि वह उतना ही स्वतंत्र जीवन जीए जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत समुराल पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु-दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जायेगा, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

सहिष्णुता का अर्थ है अपने सर्वेगों पर नियन्त्रण होना। जिसका अपने संवेगों पर नियन्त्रण होगा वही शक्तिशाली हो सकेगा। संवेगों पर नियन्त्रण के लिए सहिष्णुता की साधना का अभ्यास अत्यन्त अपेक्षित है, तभी उसका उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में किया जा सकता है। दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णु रहे, मात्र अपने दृष्टि-कोण के प्रति आग्रह न रहे इसके लिए सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है, जैसे :

१. भावात्मक संवेगों पर नियन्त्रण पाना,
२. दूसरों के विचारों को भी समझना,
३. अहं व गर्व की भावना को महत्त्व न देना।

## धार्मिक क्षेत्र में अनेकांत का योगदान

अनेकांत दृष्टिकोण का अपयोग धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता व सर्व-धर्म समभाव के लिए भी किया जा सकता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों एवं साधना के ब्राह्म नियमों का प्रतिपादन किया। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ।

इतिहास साक्षी है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य करायें।

साम्प्रदायिक आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देने वाले कुछ मुख्य कारण निम्न माने जा सकते हैं :

१. ईर्ष्या के कारण,
२. किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण,
३. किसी वैचारिक मतभेद के कारण,
४. किसी आचार सम्बन्धी नियमोपनियम में अन्तर के कारण,
५. किसी व्यक्ति या पूर्व-सम्प्रदाय के द्वारा अपमान या खींचतान होने के कारण।<sup>३३</sup>

अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है, क्योंकि वैयक्तिक रुचि-भेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यवाहारिक ही नहीं अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है, लेकिन इसके लिए आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्व-धर्म समभाव की।

### राजनैतिक क्षेत्र में अनेकांत दृष्टिकोण का प्रयोग

आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक-संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद आदि अनेक राजनैतिक विचार धाराएं तथा राज-तंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र उतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एक-दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकांत के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय है। मानव जाति ने राजनैतिक जगत् में राज-तंत्र से प्रजातंत्र तक की जो लम्बी यात्रा की है उसकी सार्थकता अनेकांत दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणा में भी सत्यता हो सकती है और विरोधी दल की उपस्थिति में अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार-दृष्टि और सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व की भावना में ही प्रजातंत्र का उज्ज्वल भविष्य है।

राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र वस्तुतः राजनैतिक अनेकांतवाद है। दार्शनिक क्षेत्र में जहां भारत अनेकांतवाद का सर्जक है, वही वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र का समर्थक है, अतः आज अनेकांत का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

### निष्कर्ष

अनेकांत दर्शन का सैद्धान्तिक पक्ष तथा वैज्ञानिक प्रयोगों पर आधारित तथ्य

जगत् में विरोधी युगल के सह-अस्तित्व को स्वीकार करता है, साथ ही इसी सह-अस्तित्व को जीवन का आधार मानता है। इस का बोध हो जाने से जीवन में समन्वय, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, सम्प्रदाय-निरपेक्षता आदि जैसे आदर्श मूल्यों की स्थापना संभव हो सकती है। दृष्टिकोण-परिवर्तन के लिए अनेकांत की सहायक-भूमिका अपेक्षित है, जिससे कि मानव में वैचारिक आग्रह का बोध समाप्त होकर दूसरे के विकास के प्रति भी समान भावना का विकास हो सके।

### संदर्भ

१. सूत्रकृतांग टीका, १।१२।१-१२
२. गौतम बुद्ध, धर्मानन्द कौशम्बी, पृ० ६७
३. अनेकांत की जीवन दृष्टि, सौभाग्यमल, सागरमल जैन, पृ० ६
४. वही, पृ० ९
५. सूत्रकृतांग टीका, १।१।२।२३
६. अनेकांत की जीवन दृष्टि, सौभाग्यमल, सागरमल जैन, पृ० ८
७. वही, पृ० ९
८. समयसार १०।२४७, आत्मख्याति
९. देवागम — अष्टशती कारिका, १०३
१०. अनेकांत और स्याद्वाद पृ० १७
११. अभिधानराजेन्द्र, प० १८५३
१२. समयसार टीका
१३. पाश्चात्य दर्शन, चन्द्रधर शर्मा
१४. अनेकांत की जीवन दृष्टि, सौभाग्यमल, सागरमल, जैन, पृ० २१
१५. जैन दर्शन में तत्व मीमांसा, मुनिश्री नथमल. पृ० १६५
१६. वही, पृ० १६८
१७. वही, पृ० १६८
१८. वही. पृ० १६९
१९. वही, पृ० १७०
२०. अनेकांत की जीवन दृष्टि, सौभाग्यमल सागरमल जैन, पृ० २१
२१. वही, पृ० १२
२२. वही, पृ० २४
२३. वही, पृ० २५



## आचार्य महाप्रज्ञ के चिंतन में 'ईश्वर'

❁ आनंदप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

संसाररूपी रंगमंच पर जब से मानव का पदार्पण हुआ है तब से इसकी विविधता, विचित्रता एवं बहुरूपता उसके अन्तर्भूत को उद्घेलित करती रही है। इस आश्चर्यजनक संसार पर दृष्टिपात कर अकस्मात् उसके मुख से यह वाणी प्रस्फुटित होने लगती है कि अहो ! कितना अद्भुत है यह संसार ? इसकी विचित्रता, विरूपता एवं व्यवस्था का निदर्शन कैसे ? इस अनोखे आदर्श भरे चित्र का चित्रकार कौन ? किस सर्वश्रेष्ठ तूलिका से इसका रेखांकन संभव हुआ ? किस मकसद एवं प्रयोजन से इसे चित्रित करने का आभास हुआ है ? कहीं यह स्वतः उद्भूत एवं स्वतः निर्गमित तो नहीं ? उसका यह चिंतन कभी सृष्टि को अनादि मानता है तो कभी अनादि सत्ता द्वारा रचित। भारतीय दर्शन की कुछ दार्शनिक परम्परा जहां इस रूपहले संसार का कर्ता, अनादि सत्ता ईश्वर को स्वीकार करती है वहीं अत्याधुनिक जैन दार्शनिक आचार्य महाप्रज्ञ सृष्टि को अनादि कहकर ऐसे किसी ईश्वर की जरूरत महसूस नहीं करते। महाप्रज्ञ के दार्शनिक विचार में ईश्वर के स्वरूप को रूपायित करने के पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि विभिन्न भारतीय दर्शन-परम्परा में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप पर दृष्टिपात कर लें।

ईश्वर विचार प्रारम्भ से ही सभी दर्शनों का प्रमुख विषय रहा है। भारतीय दर्शन को ईश्वर केन्द्रित कहा जाना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण कथन नहीं होगा। चूंकि अधिकांश भारतीय दर्शनों के प्रणेता ऋषि, महर्षि एवं संत शिरोमणि हुए हैं। अतः उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु ऐसे किसी परमतत्त्व का होना आश्चर्यजनक नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में से किसी एक भी पुरुषार्थ को स्वीकार करने वालों ने किसी न किसी रूप में परमात्मा को अवश्य स्वीकार किया है। इसमें किसी भी दार्शनिक को संदेह नहीं है।

उपनिषदों में अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म, ईश्वर आदि पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर की सर्वव्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ईश्वर अग्नि, जल, वनस्पति, वृक्ष आदि विश्व के कण-कण में व्याप्त हैं। इसी उपनिषद् में ईश्वर को विश्व के परे स्वर्ग में एकाकी वृक्ष की भांति अविचल मानकर अन्तर्यामी के साथ-साथ अतीन्द्रिय भी स्वीकार किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार चक्र की अरायें उसके केन्द्र या नाभि में संग्रहीत रहती हैं उसी प्रकार सभी देवता, सभी लोक, सभी जीवात्माएं उसी में केन्द्रित हैं। ईश्वर सत्य का सत्य है, आत्मा की आत्मा है। वह परम सत्य है। वह सर्वस्व और सबका

सार है। गीता में ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है। पुरुषोत्तम, परमात्मा, वासुदेव, प्रभु, साक्षी, ब्रह्म, महायोगेश्वर, परमपुरुष, विष्णु आदि इसके पर्यायवाची नाम गीता में यत्र-तत्र प्रयुक्त हैं। क्षर (संसारी जीव) और अक्षर (शांत जीव) से रहित उसे संसार में पुरुषोत्तम नाम से जाना जाता है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥”

चार्वाक दर्शन में “लोक व्यवहार सिद्ध राजा” को ईश्वर माना गया है। योग दर्शन में क्लेश कर्म विपाकादि से अछूता पुरुष विशेष ईश्वर कहा गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को जगन्नियन्ता, जगदीश्वर, जगत्पिता आदि शब्दों से अलंकृत किया गया है। वहां “नित्य ज्ञानाद्यधिकरणमीश्वरः” कहकर ईश्वर लक्षण को व्याख्यायित किया गया है। न्यायदर्शन में ईश्वर को जीवकृत कर्मों का फलदाता भी माना गया है। यहां ईश्वर स्वतंत्र एवं सर्वव्यापी है। अद्वैत वेदांत में ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक माना गया है। ईश्वर को आनन्दमय भी कहा गया है। विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज के अनुसार ईश्वर एक है। वह चित्त और अचित्त से विशिष्ट है। चित्त और अचित्त आधेय है, ईश्वर आधार है। चित्त और अचित्त प्रकार है, ईश्वर प्रकारी। चित्त और अचित्त नियाम्य है, ईश्वर नियन्ता। चित्त और अचित्त अंश है, ईश्वर अंशी है। इनमें शरीर और शरीरी का सम्बन्ध है। अतः रामानुज के अनुसार ईश्वर आधार, नियन्ता, प्रकारी, अंशी और शरीरी है। पाणिनीय सूत्रों में ईश्वर शब्द का प्रयोग ‘अधिरीश्वरे’, ‘स्वामीश्वराधिपतिः’, ‘तस्येश्वरः’ इत्यादि सूत्रों के उदाहरणों में ईश्वर शब्द स्वामी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदमूति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने ईश्वर को स्वीकार करने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

“विश्व ब्रह्माण्ड की आश्चर्यजनक गतिविधियों एवं प्राणी जगत् के विलक्षण क्रियाकलापों को देखकर यह विचार उठना स्वाभाविक है कि इस अद्भुत, विलक्षण संसार की निर्मात्री, नियन्ता और पोषक कोई न कोई सर्व समर्थ विचारवान् सत्ता अवश्य है। अपने आस-पास के विलक्षण जगत् को देखकर ही मनीषियों के मन में उसके कर्ता, स्वामी के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। चित्तन, मनन, शोध और साधना द्वारा उन्हें ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति हुई। न केवल अनुभूति हुई वरन् उस सर्वशक्तिमान सत्ता के संघर्ष, सान्निध्य से लाभ उठाने की सम्भावना भी साकार हुई।”

उनके शब्दों में ईश्वर दिखालाई नहीं देता इसलिए उसे न माना जाए यह तर्क नितान्त सारहीन है। अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जो दिखालाई नहीं पड़ती परन्तु फिर भी अनुभव की जाती हैं। उदाहरणतः अपने नेत्र में अंजन अपने को कहां दिखाई देता है? सरोवर में बादलों से गिरे जल बिंदुओं को कौन देख पाता है? यद्यपि तारकगणों की सत्ता दिन में होती है परन्तु सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण वे कहां दृष्टिगोचर होते हैं? आकाश में छाये जलकण दिखाई देते हैं क्या? जल में घुला नमक तथा दूध में अन्तर्निहित मक्खन क्या दिखालाई पड़ता है? फिर भी इन सबका

अस्तित्व है। अतः अप्रत्यक्ष ईश्वर का अस्तित्व है।<sup>13</sup> स्वामी दयानन्द के अनुसार जो निराकार, अजन्मा, अनंत, दयालु, न्यायकारी तथा कर्मानुसार जीवों का फलदाता है, आदि लक्षणों से युक्त है उसी को मैं ईश्वर मानता हूँ।<sup>14</sup>

जैन-दर्शन में भी ईश्वर सम्बन्धी विचार यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। संसारी जीवों में सबसे उत्कृष्ट आत्मा को परमात्मा कहते हैं।<sup>15</sup> जो व्यवहारनय से देहरूपी देवालय में बसता है पर निश्चय से देह से भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि अनन्त है, केवल ज्ञान स्वरूप है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव ही परमात्मा है।<sup>16</sup> कर्मकलंक से रहित आत्मा को परमात्मा (ईश्वर) कहते हैं।<sup>17</sup> निःशेष दोष से जो रहित है और केवलज्ञान परम वैभव से जो युक्त है, वह परमात्मा (ईश्वर) है, इसके विपरीत परमात्मा नहीं।<sup>18</sup> जिस समय विशुद्ध ध्यान के बल से कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है।<sup>19</sup> ईश्वर को प्रभू, स्वामी भी कहा गया है।<sup>20</sup>

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में ईश्वर, परमात्मा को ही माना गया है और जगत्कर्ता, जगत्पालक एवं जगत्संहारक रूप से उसे मुक्त रखा गया है। अत्याधुनिक जैन चिंतक आचार्य महाप्रज्ञ के ग्रंथों का अवलोकन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन्होंने ईश्वर को स्वीकार किया है किंतु जैन-चिंतन की कसौटी पर ही। उनके ईश्वर सम्बन्धी विचार अन्य भारतीय दर्शनों से अलग है। महाप्रज्ञ के अनुसार आत्मा (मुक्तात्मा) ही परमात्मा (ईश्वर) है। उनके अन्तःहृदय से निःसृत वाणी आत्मा और परमात्मा के इस अद्वैतरूप, को इस प्रकार उद्घाटित करती है—

“कौन कहता है अरे,  
ईश्वर मिलेगा साधना से,  
मैं स्वयं वह, वह स्वयं मैं  
भावमय आराधना से।  
वह नहीं मुझसे विलग है  
नहीं मैं भी विलग उससे,  
एक स्वर है एक लय है  
त्वं अहं का भेद किससे ?”<sup>21</sup>

अर्थात् आत्मा और ईश्वर अलग नहीं है। त्वं, अहं में भेद नहीं है। उपनिषद् में भी तत् (ब्रह्म) और त्वम् (आत्मा) को एक मानते हुए ‘तत्त्वमसि’ कहा गया है। ‘अयं आत्मा ब्रह्म’<sup>22</sup> और ‘अहं ब्रह्मास्मि’<sup>23</sup> से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ यह मानते हैं कि हमारा आदर्श है अजर और अमर (तत्त्व) न जरा न मौत। सुख भी ऐसा कि जिसमें कोई बाधा न हो। वह सुख नहीं कि जिसमें एक क्षण तो सुख होता है और दूसरे क्षण में दुःख होता है। वैसा सुख नहीं, निर्विघ्न सुख अर्थात् जिसमें निरन्तर सुख का प्रवाह चालू रहता है। यानी



अनंत सुख और अबाध सुख । ज्ञान भी सीमातीत हो, अनन्त हो । शक्ति भी असीम हो । इन सबको मिलाने से जिस आदर्श प्रतिमा का निर्माण होगा वह आदर्श प्रतिमा ईश्वर है । अर्थात् अनंतज्ञान, अनंत शक्ति, अनंत दर्शन और अनंत सुख संपन्न ईश्वर है ।<sup>३४</sup> आगे यह भी बतलाया है कि हमारा आदर्श हमारा ईश्वर है । उस अवस्था में पहुंचने के लिए हमें पांच आचारों को जीवन में उतरना होगा, जो इस प्रकार हैं<sup>३५</sup>—

१. ज्ञान आचार
२. दर्शन आचार
३. चारित्र्य आचार
४. तप आचार
५. वीर्य आचार

ईश्वर बनने के लिए आवश्यक है ज्ञान । हमारे ज्ञान का मूल केन्द्र है आत्मज्ञान । जो अपने आपको जानता है वह दूसरों को यथार्थ में जान लेता है । जो अपने आपको नहीं जानता, वह दूसरों को नहीं जानता । आत्मज्ञानी और ईश्वर—ये दो बातें नहीं हैं । जो आत्मज्ञानी है वह ईश्वर है ।<sup>३६</sup> यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने भी अपने आपको जानो कहकर इसी सत्य को प्रतिपादित किया था । छांदोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के संवाद से भी यही स्पष्ट होता है कि आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है । नारद सनत्कुमार से कहते हैं—“मैंने समस्त वेद, इतिहास, पुराण, गणितशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, भूतविद्या, अस्त्रविद्या, मंत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, ललितकला आदि सबका अध्ययन किया है किंतु मुझे दुःख है कि इतना ज्ञान मुझे शोकसागर से पार न उतार सका । मैंने गुरुओं से सुना है कि आत्मज्ञान रूपी सेतु से ही शोकसागर को पार किया जा सकता है ।”<sup>३७</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि शोकातीत (अमरत्व) अवस्था को आत्मज्ञानी ही पा सकता है । आचार्य शंकर ने भी ‘मोक्षप्रतिबन्ध निवृत्ति मात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्’ कहकर आत्मज्ञान का गुणगान किया है ।<sup>३८</sup>

ईश्वर में स्वरूपमय होने के लिए दूसरा आचार दर्शन अर्थात् श्रद्धा है । ‘सम्यक् दर्शनं ज्ञानं चारित्र्याणि मोक्षमार्गः’ में दर्शन का सर्वप्रथम चित्रण इसकी महत्ता को सिद्ध करता है । मनु ने भी सम्यक् दर्शन की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि—

“सम्यक् दर्शनं सम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते ।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं पतिपद्यते ॥”<sup>३९</sup>

गीता में उद्धृत तीन मार्गों में भक्ति ही वास्तव में दर्शन है । रामानुज ने भी इसी भक्ति (दर्शन) को मोक्ष साधन के रूप में स्वीकार किया है । महाप्रज्ञ का मानना है कि दर्शन यानी आस्था के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है ।<sup>४०</sup>

केवलज्ञान या आस्था से पार नहीं पाया जा सकता, एतदर्थं अभ्यास आवश्यक

होता है। यह अभ्यास ही चारित्र्य है।<sup>31</sup> योगसूत्र में भी इसी अभ्यास को मूल्यवान् मानते हुए कहा गया है—“अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः”<sup>32</sup> गीता में भी अभ्यास की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है—“अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।”<sup>33</sup>

ईश्वर आदर्श तक पहुंचने के लिए चौथा आचार तप है। प्रत्येक व्यक्ति जो प्रगति पथ पर गतिशील है, उसके सामने अनेक कठिनाइयां आती हैं, समस्याएं आती हैं। जब तक उन कठिनाइयों से जूझने की क्षमता नहीं होती, तब तक जहां पहुंचना है वहां पहुंचा नहीं जा सकता। इसके लिए तपस्या आवश्यक है। तपस्या का अर्थ केवल उपवास करना नहीं है। तपस्या का अर्थ है आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों को भेलना उनसे जूझना।<sup>34</sup> अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने ‘कर्म निर्जरण हेतु पौरुष ! तपः’ कहकर तप को व्याख्यायित किया है।<sup>35</sup> अर्थात् संबित कर्मों का शोधन करने वाले पराक्रम को तप कहा जाता है। जो तप करता है उसके कर्म संस्कार क्षीण होते हैं। तपस्वी हर प्रकार की परिस्थितियों में सम रहकर कर्म-निर्जरा करता है। योग दर्शन में तपस्या के द्वारा अशुद्धि के दूर होने से शरीर और इन्द्रिय की शुद्धि होती है ऐसा माना गया है।<sup>36</sup> अतः तपस्या ईश्वर जैसे आदर्श तक पहुंचने के लिए आवश्यक है।

पांचवां आचार है वीर्य यानी पराक्रम। पराक्रम के बिना न तपस्या हो सकती है और न ही आचरण हो सकता है, न आस्था का निर्माण हो सकता है और न ही ज्ञान। सबके मूल में पराक्रम है। अतः महाप्रज्ञ का मानना है कि ईश्वर बनने के लिए, ईश्वर जैसे आदर्श को प्राप्त करने के लिए पांचों आचारों को निरन्तर साधना करनी चाहिए।<sup>37</sup>

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर सहज पहुंच सकते हैं कि आचार्य महाप्रज्ञ के दर्शन में ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन दर्शन जैसा ही है। उन्होंने जैन दर्शन की ही ईश्वर सम्बन्धी मान्यता को पुष्ट किया है, समृद्ध किया है। जैन दर्शन में तीर्थंकर और सिद्ध ही ईश्वर (परमात्मा) माने गए हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य महाप्रज्ञ के दर्शन में, दार्शनिक चिंतन में ईश्वर सम्बन्धी मान्यता अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह ही है। वह क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित है, वह सर्वज्ञ है, वह परमानन्द रूप है। वह अनन्तज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और पराक्रम से पूर्ण है, वह निरुपपन्न है। इतना सब होते हुए भी महाप्रज्ञ अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह ईश्वर को जगत्कर्ता, जगन्नियन्ता, जगत्पालक एवं जगत्संहारक नहीं मानते। महाप्रज्ञ जगत्कर्ता के रूप में ईश्वर को मानने की अपेक्षा अपने को निरीश्वरवादी कहा जाना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह विश्व किसने बनाया ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि विश्व को बनाने वाला कोई नहीं है। यदि ईश्वरवादी होने का अर्थ ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता मानने से है तो वे ईश्वरवादी नहीं हैं। पर वे ईश्वरवादी हैं क्योंकि वे ईश्वर को अपना आदर्श मानते हैं और यह भी मानते हैं कि ईश्वर सबका आदर्श होना चाहिए

जिसकी प्राप्ति किसी कर्मकांड से नहीं अपितु आत्मज्ञान से होनी चाहिए। इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि उनके दर्शन में ईश्वर परमात्मा के ही रूप में है।

**संदर्भ :**

१. न्यायकुसुमाञ्जलि, १७
२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ११, १७
३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ११-१-१५
४. वही, ११-१-१६
५. गीता, १५।१८
६. योगसूत्र, १।२४
७. ब्र० सू० शा० भा०, २।१।३४
८. श्रीभाष्य, २।१।९
९. वही, १।४।९७
१०. वही, २।३।३९
११. वही, ९।१।४२
१२. ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? पृ० ४
१३. वही, पृ० ६
१४. ईश्वर की सत्ता और महत्ता—संपादक हनुमान प्रसाद पीढ़ार, पृ० १५
१५. समाधिगतक टीका, ६।२२५।१५, 'परमात्मा संसारी जीवैभ्यः उत्कृष्ट आत्मा'।
१६. "देहादेवलि जो बसइ देउ अणाइ-अणंतु। केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु।" परमात्मप्रकाश
१७. "कम्म कलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।" मोक्षपाहुण
१८. नियमसार, ७
१९. ज्ञानार्जव अधिकार, २१।७।२२१
२०. 'इस्सरो पभूसामी' एकार्थक कोश, पृ० ३१
२१. फूल और अंगारे, पृ० ४३३
२२. बृहदारण्यक उपनिषद्, २।५।१९
२३. वही, १।४।१०
२४. जीवन की पोथी, पृ० ३
२५. वही
२६. वही, पृ० १५
२७. छांदोग्य उपनिषद्, ७।१।२-३
२८. ब्र० सू० शा० भा०, १।१।४
२९. मनुस्मृति, ६।७४

३०. जीवन की पोथी, पृ० ४
३१. वही
३२. पातंजल सूत्र, १।१२
३३. गीता, ६।३५
३४. जीवन की पोथी, पृ० ४
३५. मनोनुशासनम्, ६।२२
३६. पातंजल सूत्र, २।४३
३७. जीवन की पोथी, पृ० ३
३८. जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं, पृ० ४



## ‘संबोधि’ में प्रयुक्त छन्द

□ समणी स्थितप्रज्ञा

विश्व का अधिकांश साहित्य छन्दोबद्ध है। सर्व-प्राचीन एवं संसार का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोमय है। संस्कृत-साहित्य का अधिकांश मर्म भाग भी किसी-न-किसी छन्द में ही निबद्ध है और आधुनिक काल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न है। इस लघु लेख में आचार्य महाप्रज्ञ के संबोधि महाकाव्य में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन किया जा रहा है।

### छन्द शब्द की व्युत्पत्ति

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गयी है—आवरकत्व पक्ष और आह्लादकत्व पक्ष में।

चुरादि छदि संवरणे धातु से छन्द शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है आच्छादन।<sup>१</sup> यह पापों से मनुष्यों को बचाता है। मन्त्रतेज छन्दः स्वरूप कवन्व से आच्छादित रहता है। इसलिए छादकत्व धर्म होने के कारण उसे छन्द कहते हैं। यही मान्यता व्याकरण आचार्यों की है।<sup>२</sup>

### उसका आह्लादकत्व

श्वादिगणीय ‘चदि आह्लादने दीप्तौ च’ धातु से ‘चन्देरादेश्छः’ औणादिक सूत्र से अमुन् प्रत्यय और चकार के स्थान पर छकार करने पर छदि शब्द निष्पन्न होता है। जो आह्लादित करे, चित्तवृत्तियों को विकसित करे, दीप्त करे उसे छन्द कहते हैं। आह्लादन अर्क में अनेक व्युत्पत्तियां मिलनी हैं—

चन्दति आह्लादं करोति दीव्यते वा श्रव्यतया इति छन्दः।<sup>३</sup> छन्दयति आह्लादयते इति छन्दः।<sup>४</sup> चन्दनादाह्लादनात् छन्दांसि वर्णमात्रानियमितानि वृत्तानि तेषाम् छदयति मनोगतान् भावान् इति छन्दः।<sup>५</sup> जो आह्लादित करे अर्थात् श्रव्य के माध्यम से चित्त को विकसित करे वह छन्द है।

लघु-गुहओं के नियत अक्षर में और चार चरणों में विभक्त जो विशिष्ट क्रम है उसे छन्द कहते हैं। हृदयस्थ भावनाओं की लयात्मक किंवा संगीतात्मक अभिव्यक्ति छन्द है।

रागात्मिका वृत्तिवाली कृतियां छन्दोबद्ध होती हैं। यही कारण है कि विश्व का अधिकतम साहित्य छन्दाश्रित मिलता है। काव्यांगभूत रस, अलंकार, गुणादि में छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। छन्दों या वृत्तों जैसा माधुर्य, सौष्ठव एवं सहजग्राह्यता

अन्यत्र दुर्लभ है ।<sup>१</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसे काव्य का महदुपकारक अंग माना है ।<sup>१</sup>

कवि संसारिक जगत् से प्राप्तज्ञान को अनुभूति का विषय बनाता है । समाधि, साधना और शास्त्राभ्यास के द्वारा उसकी अनुभूति नित्यसंवर्द्धिनी बन जाती है । कभी-कभी किसी बाह्य कारणवश वह अपनी अनुभूति को जब शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है तब वही अभिव्यक्ति छन्दों के नियम में निबद्ध होती है । ऐसा नहीं होता कि छन्द बाहर से लाव दिए जाते हैं; बल्कि वे सहज ही कवि की आंतरिक चेतना से निःसृत शब्दों के साथ ही आते हैं । इतना आवश्यक होता है कि छन्दोमयी वाणी अधिक प्रभावशाली, सशक्त, ललितलावण्यमयी एवं श्रुति-मधुर अभिव्यंजना से सम्पन्न होती है । आदि कवि महर्षि वाल्मीकि के हृदय में कौची के वियोग से जब करुणा-सागर उफनने लगा तब स्वतः ही अनुष्टुप छन्द का प्रादुर्भाव हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्कौचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

जिस पर न केवल बाह्य जगत् को आश्चर्य हुआ बल्कि स्वयं वाल्मीकि भी आश्चर्यान्वित हुए बिना नहीं रहे । तात्पर्य है कि छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया जाता है । जितनी स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ लय के सामञ्जस्य से हो सकती हैं उन्हें ही छन्दःशास्त्र में छन्द कहा गया । यह भी कह सकते हैं कि हृदयस्थ भावनाओं की लयात्मक, सजीवात्मक एवं रागात्मक अभिव्यक्ति छन्द है । सुप्रसिद्ध आलोचक पण्डित रामचन्द्रशुक्ल के अनुसार—  
“छन्द वास्तव में बन्धी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढांचों का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है । लय के उतार-चढ़ाव (मूच्छना) के छोटे-छोटे ढांचे ही हैं जो किसी छन्द के भीतर न्यस्त होते हैं ।” इनका सम्बन्ध जीवन के रक्षणामक एवं मनोरजनात्मक पक्ष से होता है । ये नाद सौन्दर्य पर आधारित होते हैं ।

जैसे नदी की धारा को रोक कर तेज बनाया जाता है, उसी प्रकार साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नहीं होती वह छन्द-व्यवस्था से पैदा कर ली जाती है । यह स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृत्रिम बन्धन है, जिससे प्रवृत्ति-प्रवाह में बाधा उत्पन्न नहीं होती, बल्कि अत्यधिक गतिशीलता एवं अन्यों को भी अपनी धारा में बहा लेने की शक्ति आ जाती है ।

यही कारण है कि प्राचीनकाल से ही महाकवि रसिक, छहल्ल समुदाय छन्द-प्रयोग में अनुरक्त तो है ही । संसार से निर्बेदापन्न आचार्य, समदर्शी साधु एवं ज्ञानी उपदेशक भी अपने या अपने उपजीव्य के जीवन-दर्शन को आस्तिक जनता तक पहुंचाने के लिए छन्दों का आश्रय लेते हैं । भक्त भी छन्दोमयी वाणी का आश्रय इसलिए लेते हैं कि उनकी वाणी में वह शक्ति आ जाती है जो उनके प्रभु को भी हिला देती है ।

### छन्दोमयी वाणी की प्राचीनता

छन्द का सम्बन्ध मानवीय भाषा से है । ऐसा लगता है कि छन्द का प्रादुर्भाव

तभी हो गया होगा जब मनुष्य ने बोलना शुरू किया था। इसमें सत्यांश की गुंजाइश है कि सम्भवतः मानव ने प्रथमतः पद्य का ही प्रयोग किया होगा। प्रारम्भ में उसने जो कुछ भी कहा होगा उसमें उसकी हृदयगत भावनाओं की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई होगी। भावावेश में निकली वाणी में नैसर्गिक लयात्मकता एवं स्वाभाविक अनुकरण-नीयता अवश्य विद्यमान रहती है, क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण अभी भी मिलते हैं कि जब व्यक्ति भावावेश में कुछ बोलता है तो उसमें लयात्मकता आ ही जाती है। क्राँची की दुःखावस्था से भावित बाल्मीकि ने जो कुछ कहा वह छन्द बन गया। बाल्मीकि ने बुद्धि लगाकर छन्द का निर्माण नहीं किया।

मानवीय जाति के आद्य ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के काफी पूर्व भी भारतीय ऋषियों अथवा लोकजीवन में छन्दों का विकास हो चुका था। इसलिए छन्द को वेद पुरुष का चरण कहा गया है—'छन्दः पादौ तु वेदस्य' (पाणिनि-शिक्षा) अर्थात् वेदों की रचना का आधार छन्द है। अतएव इतना तो निश्चित है कि छन्दों की उत्पत्ति वैदिककाल से पूर्व ही हो चुकी थी। क्योंकि तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि सृष्टिकर्त्ता ने आरम्भ में ही छन्दों की रचना की।<sup>11</sup>

### आचार्यश्री महाप्रज्ञ की काव्य प्रतिभा

तेरापन्थ धर्मसंघ के दशम आचार्यश्री महाप्रज्ञ भी इसी सरणि में प्रतिष्ठित दिखाई पड़ते हैं। उनकी कवि प्रतिभा इतनी शक्ति-सम्पन्न है कि वह तत्क्षण दिए गए विषयों पर विशिष्ट छन्दों की रचना कर रसिक समुदाय को चकित कर देती है। विक्रम संवत् २०१५ में उन्होंने बनारस संस्कृत महाविद्यालय में राष्ट्रसंघ विषय पर तत्क्षण उपेन्द्रवज्रा छन्द का निर्माण किया—

एको बहुस्यामिति भावनाद्या,  
संघप्रवृत्तिर्मनुजेषु जाताः  
बहुप्रकाराः प्रचलन्ति संघाः,  
स्याद् राष्ट्रसंघोऽपि महांश्च तत्र ॥<sup>12</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के काव्यों में अनुष्टुप, मन्दाक्रांता, बसन्ततिलका, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, मालिनी आदि का प्रयोग प्रमुखरूप से किया गया है।

### मन्दाक्रांता

मन्दाक्रांता के प्रयोग में महाकवि सिद्धहस्त हैं। मनोरम भावों की अभिव्यंजना, कल्पना, भावना एवं संगीतमय वातावरण के चित्रण एवं भाव पदार्थों के मूर्त्त विलास के अवसर पर मन्दाक्रांता का प्रयोग किया जाता है। सम्पूर्ण अश्रुवीणा, जो चंदनबाला की कारुणिक मुक्ति कथा पर आश्रित है, मन्दाक्रांता छन्द में ही निबद्ध है—

श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्ध-दिग्धास्यदन्तान्,  
भद्रानज्ञान् वचसि निरतास्तर्कबाणौरदिग्धान् ॥



विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्कलब्धावसांदा-  
त्तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः ॥<sup>13</sup>

श्रद्धा का चित्रण प्रस्तुत छन्द में सुन्दर रूप से किया गया है ।

दाता और ग्रहीता के बिम्ब का अनाबिल निरूपण इसी छन्द में किया गया है ।

उदाहरण —

पाणी दाह्याः प्रमद-विभव-प्रेरणात्कम्पमानौ,  
स्निग्धौ क्वापि व्यथितपृषता माषसूर्प वहन्तौ ।  
आदातुस्तौ दृढतमबलात् सुस्थिरी सानुकम्पौ,  
सद्योऽकाष्टौ हृदयसजली सूर्पमाषान् वहन्तौ ॥<sup>14</sup>

इस प्रकार महाकवि ने मन्दाक्रांता छन्द में सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है ।

### अनुष्टुप

निर्मलप्रज्ञा के धनी आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अनुष्टुप छन्द में साधक की उत्कृष्टता का निरूपण करते हुए कहा है—

निवृत्तिः पूर्णतामेति, शैलेशीञ्च दशाश्रितः ।

अप्रकम्पस्तदा योगी, मुक्तो भवति पुद्गलैः ॥<sup>15</sup>

अर्थात् निवृत्ति से ही योगी पूर्णता को प्राप्त होता है ।

### बसन्ततिलका

गुरु की महिमा का उत्कीर्तन बसन्ततिलका छन्द में किया है—

त्वां तोलयत्यऽयमऽहो तुलसी मुनीशः,

स्वीकृत्य काञ्चन तुलां तुलनतिरेकम् ।

यत्काञ्चनाचलमथो अधरीकरोति,

धैर्यं तवैकमपि कास्तु तुलान्यदीया ॥<sup>16</sup>

गुरुदेव श्री तुलसी का धैर्य अचल है जिसकी तुलना अन्य किसी के साथ नहीं हो सकती ।

### उपजाति

उपजाति छन्द में सरस्वती अभिवन्दना करते हुए कहा है—

श्री केवलज्ञानविभाकरेण,

विभूषितज्ञातसुतस्य शस्या ।

सरस्वती कल्पलतेव काम्या,

स्वारोहान्मानसहंसपोतम् ॥<sup>17</sup>

### उपेन्द्रवज्रा

उपेन्द्रवज्रा छन्द में यश का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है—

हिमालयान्तं वसुधाविभागं,  
 कृत्वा वलक्षं यशसा स्वकेन ।  
 संस्थापयिष्यामि शिवं मुदेति,  
 ध्यात्वाहरोहोत्तरदिग्गजं सः ॥<sup>१८</sup>  
 इसमें शौर्य का दिग्दर्शन बहुत ही सुन्दर ढंग से कराया गया है ।

### इन्द्रवज्रा

रत्नपाल राजा के सिंहासन, चामर आदि का सौंदर्य से परिपूर्ण मार्मिक चित्रण इन्द्रवज्रा छन्द के माध्यम से किया गया है—

सौधं द्रुमाः पत्रमिहाऽऽतपत्रं,  
 सिंहासनं भूमितलं पवित्रम् ।  
 पतत्रिपत्राणि च चामराणि,  
 रत्नं खगानां खलु बन्दिबोधः ॥<sup>१९</sup>

### खगधरा

मद्रास संस्कृत-कॉलेज में समस्या पूर्ति के समय खगधरा छन्द में त्रिनेत्र की आराध्य के रूप में स्तवना करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया—

दृष्टिर्यस्यास्ति निद्रामपि च गतवती द्रष्टुमर्हेन्न सत्य-  
 मेकं नेत्रं विनिद्रं भवति परिचितं किञ्चिदालोक्तं तत् ।  
 नेत्रे द्वेस्ते विनिद्रे प्रतिपलकमसौ मञ्जतात्सत्यसिन्धौ,  
 सप्तः सप्तार्कानुन्नारुणकिरणनिभः पातु बिभ्रन् त्रिनेत्रः ॥<sup>२०</sup>

### मालिनी

उज्जैन, (वि० सं० २०१२) संस्कृत सम्मेलन में महाकवि ने मालिनी छन्द के संगान में आज के नेताओं पर करारा व्यंग्य भी किया है—

नृपतिरपि जनः स्यात्प्राकृतो मार्गचारी,  
 क्वचिदपि न पुराणैः कल्पना चाप्यकारि ।  
 भवति जगति नेता साम्प्रतं नाम निःस्वः,  
 मशकदशनमध्ये हस्तिनः सञ्चरन्ति ॥<sup>२१</sup>

यह वास्तविक सत्य है कि प्राचीनकाल में राजा-महाराजा को कवि एवं प्रजा भगवान् की तरह पूजा-अर्चना करती थी ।

### ‘संबोध’ की छन्द-योजना

आचार्य एवं उपदेशक दर्शन के दुर्बोध तत्त्वों को काव्य की भाषा का अवलम्बन कर सरल एवं सुबोध पद्धति में आस्तिक जनता के सामने उपस्थापित करते हैं । संबोध के महाकवि भी इसी भावना से भावित है ।

इस काव्य में लगभग ७०३ श्लोकों में वर्ण्य विषय को निरूपित किया गया है, जिसमें ५ श्लोक (२-१०, ११, १४, १५, १९) इन्द्रवज्रा और ४ श्लोक (२-८, ९, १२, १३)

उपेन्द्रवज्रा और शेष अनुष्टुप छन्द में निबद्ध हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ विरचित संस्कृत वाङ्मय के अधिकांश भाग में अनुष्टुप् छन्द ही विनियुक्त है।

### अनुष्टुप

तत्त्वदर्शन, धर्मचिंतन, उपदेश, आख्यान, कथा-विस्तार, संवाद, देश, नगर, इतिहास आदि के निरूपण के लिए प्रस्तुत छन्द का विनियोग किया जाता है। भावों की निर्मलता, भव्यता एवं उदात्तता आदि को उद्घाटित करने के लिए यही छन्द प्रयुक्त होता है। संस्कृत साहित्य में यह छन्द इतना प्रथित है कि वैदिक-काल से लेकर आज तक सभी प्रसिद्ध कवियों ने इसका प्रयोग किया। आदि कवि का तो अनुष्टुप सर्वस्व ही है, ऋषि, व्यास, कालिदास, अश्वघोष आदि सबने इसका प्रभूत उपयोग किया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ इसकी महनीयता से पूर्णतया परिचित हैं। इसलिये संपूर्ण संबोधि (केवल कुछ श्लोकों को छोड़कर) इसी छन्द में निबद्ध हैं।

यह वर्णिक छन्द है। इसमें चारों चरण समान होते हैं। प्रत्येक चरण का पांचवां वर्ण लघु, छट्ठा दीर्घ तथा सातवां वर्ण प्रथम तथा तृतीय चरण में दीर्घ एवं द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में ह्रस्व होता है—

इसे वक्त्र छन्द भी कहा जाता है। छन्दोमंजरी के अनुसार—

पञ्चमं लघु सर्वज्ञ, सप्तमं द्विचतुर्थयोः।

गुरुषष्ठं च पादानां शेषैष्वनियमो मतः ॥

प्रयोगे प्रायिकं प्राहुः केष्येतद्वृत्तलक्षणम्।

लोकेऽनुष्टुबिति ख्यातं तस्याष्टाक्षरतामता ॥<sup>२१</sup>

इसमें सभी चरणों में पांचवां अक्षर लघु होता है, दूसरे-चौथे चरणों में सातवां लघु तथा छट्ठा गुरु होता है। शेष वर्णों का कोई नियम नहीं होता। दूसरे आचार्य इसको 'अनुष्टुप' छन्द मानते हैं।

संबोधि में इस छन्द का प्रयोग मेघकुमार के आख्यान निरूपण एवं जैनदर्शन के तथ्यों के उपपादन के क्रम में किया गया है। उदाहरणस्वरूप—

अकष्टासादितो मार्गः, कष्टापाते प्रणश्यति।

कष्टेनापादितोमार्गः, कष्टेष्वपि न नश्यति ॥<sup>२३</sup>

इसमें अनुष्टुप छन्द के सारे लक्षण घटित होते हैं। इसके चारों चरण समान हैं। प्रत्येक चरण का पांचवां अक्षर लघु है, छट्ठा गुरु है। प्रथम एवं तृतीय चरण में सातवां अक्षर गुरु तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में लघु है। अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

सन्तोऽसन्तश्च संस्काराः, निरुद्धयन्ते हि सर्वथा।

क्षीयन्ते सञ्चिताः पूर्वं, धर्मणैतच्च तत्फलम् ॥<sup>२४</sup>

धर्म से सत् और असत् संस्कार निरुद्ध होते हैं तथा पूर्व-संचित संस्कार क्षीण होते हैं। यही धर्म का फल है। कहा भी है—

अपि शात्रवमापन्नान्, मनुते सुहृदः प्रियान्।

अपि कष्टप्रदायिभ्यो, न च क्रुद्धेन्मनागपि ॥<sup>२५</sup>

अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वालों को प्रिय मित्र मानता है और कष्ट देने वालों पर तनिक भी क्रुद्ध नहीं होता। वह अपना विकास कर लेता है, इस तथ्य को पुष्ट करते हुए कहा है—

अशुभानां पुद्गलानां, प्रवृत्त्या शुभया क्षयः ।

असंयोगः शुभानाञ्च, निवृत्त्या जायते ध्रुवम् ॥<sup>१९</sup>

निवृत्ति भी अभ्यास-साध्य होती है इसकी सिद्धि की गयी है—

विद्यमाने शरीरेऽस्मिन्, सततं कर्म जायते ।

निवृत्तिरसतः कार्या, प्रवृत्तिश्च सतस्तथा ॥<sup>२०</sup>

जब तक शरीर विद्यमान रहता है तब तक निरन्तर कर्म होता रहता है। इस दशा में असत्कर्म की निवृत्ति और सत्कर्म की प्रवृत्ति करनी चाहिए। असत् की निवृत्ति होते-होते एक दिन सत् की भी निवृत्ति हो जाती है।

उपर्युक्त सभी गाथाओं में अनुष्टुप छन्द के लक्षण घटित होते हैं।

### इन्द्रवज्रा

दार्शनिक सिद्धांतों का सहज अभिव्यंजन एवं श्रुतिमधुर अनुरणन के लिए इस छन्द का प्रयोग किया जाता है। यह एकादश अक्षर वाला समछन्द है। इसके प्रत्येक प्रत्येक चरण में तगण-तगण जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं। छन्दोमंजरी में कहा गया है—

“स्यादिन्द्रवज्रा यदि तो जगौगः ।”<sup>२०</sup>

संबोधि में अत्यल्प प्रयोग हुआ है। मोहायतन (तृष्णा) के विनाश का चित्रण कारण परम्परालंकारालंकृत एवं माधुर्य-प्रसाद गुण मंडित इन्द्रवज्रा छन्द में किया गया है—

दुःखं हतं यस्य न चास्ति मोहो, मोहो हतो यस्य न चास्ति तृष्णा ।

तृष्णा हता यस्य न चास्ति लोभो, लोभो हतो यस्य न किञ्चनास्ति ॥<sup>२१</sup>

इस श्लोक के प्रत्येक चरण में त, त, ज और दो ग हैं तथा एकादश अक्षर हैं। विश्लेषण अधोविन्यस्त है—

दुःखं हतं यस्य न चास्ति मोहो

यहां पर त=दुःखं ह=SS१

त=तं यस्य=SS१

ज=न चास्ति=१S१

अंत में दो गुरु=मोहो=SS

### ११ अक्षर

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

द्वेषञ्च रागञ्च तथैव मोह-मुद्धर्तुकामेन समूलजालम् ।

ये ये ह्युपाया अभिषेवणीया-स्तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वम् ।<sup>२०</sup>

इसके प्रत्येक चरण में एकादश अक्षर—त, त, ज और ग, ग के क्रम से उपन्यस्त

हैं। प्रथम चरण का विश्लेषण द्रष्टव्य है :—

द्वेषञ्च रागञ्च तथैव मोहं

द्वेषञ्च=SS? (तगण)

रागञ्च=SS? (तगण)

तथैव=?S? (जगण)

मोहं=SS (दो गुरुवर्ण)

### ११ अक्षर

एक उदाहरण का निर्देश, जिसमें अजेय-जितेन्द्रिय मुनियों का चित्रण औपम्य-शैली में किया गया है। यह श्रुतिमधुरता, श्रवणसुखदता एवं सद्यः प्रभावोत्पादकता आदि गुणों से संवलित है—

विविक्तशय्याऽसनयन्त्रिताना-मल्पाशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।

रागो न वा धर्षयते हि चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधेन ॥<sup>39</sup>

इस गाथा में इन्द्रवज्रा छंद के लक्षण पूर्णतया घटित हो रहे हैं।

### उपेन्द्रवज्रा

यह संस्कृत साहित्य का प्रिय छन्द है। तात्त्विक एवं प्रज्ञामूलक विम्बों के उपस्थापन में इसका अत्यधिक प्रयोग परिलक्षित होता है। इस छन्द के सभी चरण समान होते हैं। प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और अन्त में दो गुरु के क्रम से ११ अक्षरों का विन्यास होता है। यह इन्द्रवज्रा जैसा ही है। केवल प्रथम अक्षर इन्द्रवज्रा का गुरु होता है, उपेन्द्रवज्रा में लघु हो जाता है— “उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा।”<sup>40</sup> वृत्तरत्नाकरकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—उपेन्द्रवज्रा जतजा स्ततो गौ।<sup>41</sup> अर्थात् उपेन्द्रवज्रा छन्द में जगण, तगण, जगण और अन्त में दो गुरु वर्ण का उपक्रम किया जाता है।

आचार्यश्री महाप्रब ने संबोधि में इस छन्द का प्रयोग बहुत कम किया है, लेकिन जितने हैं वे अत्यन्त आकर्षक हैं। अलंकारों के स्वाभाविक-प्रयोग से उनका छांदिक सौन्दर्य प्रशंसनीय बन गया है। लौकिक दृष्टांत के द्वारा मोहायतन तृष्णा है और तृष्णायतन मोह है’ इस तथ्य का निरूपण अधो विन्यस्त श्लोक में किया गया है—

यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।

एवञ्च मोहायतनं हि तृष्णा, मोहश्च तृष्णायतनं वदन्ति ॥<sup>42</sup>

इसके प्रत्येक चरण में ज, त, ज, ग, ग के क्रम से ११ अक्षर विन्यस्त हैं। प्रथम चरण का विश्लेषण द्रष्टव्य है—

‘यथा च अण्डप्रभवा बलाका’

यथा च=१SS जगण

अण्डप्र=SS? तगण

भवाव=१S? जगण

लाका=SS दो गुरु

११ अक्षर

अधिक खाने वाले व्यक्तियों की दुर्दशा का चित्रण इस छन्द में सफलतापूर्वक किया गया है ।

यथा दवाग्निं प्रचुरेन्धने वने, समाहतो नो पशमं ह्युपैति ।

एवं हृषीकाग्निं रत्नत्पभुक्ते, नं शान्तिमाप्नोति कथञ्चनापि ॥<sup>३५</sup>

इस प्रकार महाकवि आचार्यश्री महाप्रज्ञ छन्द-प्रयोग में कुशल हैं और इन्हें अनुष्टुप के प्रयोग में महारथ हासिल है ।

३

### सन्दर्भ

१. घातुपाठ, पृ० ४९
२. एतरेयोपनिषद्, १.६.१
३. उणादिसूत्र, ४।२।१८
४. छन्दः सूत्र निवृत्ति
५. अमरकोश, ३.२.२०।टीका
६. हेमचन्द्र, छन्दोऽनुशासन. पृ० १
७. वही, पृ० १
८. वही, पृ० १
९. वाल्मीकि रामायण, १.२.१५
१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग, २ पृ० १५९
११. तैत्तिरीय संहिता, ७.१.४।पृ०
१२. अतुला-तुला, १।पृ० ९५
१३. अश्रु-वीणा, १।पृ० २
१४. वही, ९.२।पृ० ५२
१५. संबोधि, ८।१७।पृ० १६३
१६. रत्नपाल चरित्त/सर्ग, २।श्लोक ५९।पृ० १७
१७. वही/मंगलाचरण, १।पृ० १
१८. वही/स०, १।१३।पृ० ३
१९. वही/स०, १।१३।पृ० ३
२०. महाप्रज्ञ व्यक्तित्व एवं कृतित्व, ११।१।पृ० ३४३
२१. अतुला तुला/समस्यापूर्तिरूपम् ७, पृ० १३०
२२. छन्दोमंजरी/स्तवक ४, पृ० १३६
२३. संबोधि ३।५, पृ० ५३

२४. वही, २।४१।पृ० ४२  
 २५. वही, ५।५। पृ० ९५  
 २६. वही, ८।१६/पृ० १६३  
 २७. वही, १४।१९/पृ० ३१५  
 २८. छन्दो, २।११।पृ० ३३  
 २९. सं०, २।१०।पृ० २५  
 ३०. वही, २।११/पृ० २६  
 ३१. वही, २।१४/पृ० २८  
 ३२. छन्दो, २/पृ० ३४  
 ३३. वृत्तरत्नाकर  
 ३४. सं०, २।८/पृ० २५  
 ३५. सं०, २।१३/पृ० २७

## ऋग्वेद की मंत्र संख्या\*

परमेश्वर सोलंकी

ऋग्वेद संहिता विश्व वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ है और यह ज्ञान का अक्षय भण्डार है। यह कहना कठिन है कि इसका वर्तमान स्वरूप कब बना ? किंतु महाभारत युद्ध से पूर्व लिखे गए शतपथ ब्राह्मण (१४.४.२.२३) में प्रजापति सृष्ट ऋचाओं की संख्या १२००० (बारह हजार) बृहती छन्द-परिमाण बताई गई है। इस उल्लेख से ऋग्वेद का ग्रन्थाग्र  $१२००० \times ३६ = ४,३२०००$  अक्षर तुल्य होता है।<sup>१</sup>

ऋग्वेद की एक शाखा में ग्यारह श्लोकों का एक "छन्द संख्या परिशिष्ट" प्राप्त होती है। उसके अनुसार ऋग्वेद में गायत्री छन्द-२४५१, उष्णिक्-३४१, अनुष्टुप्-८५५, बृहती-१८१, पंक्ति-३१२, त्रिष्टुप्-४२५३, जगती-१३४८, अतिजगती-१७, शकवरी-१९, अतिशकवरी-९, अष्टि-६, अत्यष्टि-८४, धृति-२, अतिधृति-१, एकपदा-६, द्विपदा-१७, बार्हत प्रगाथ-३८८, काकुभ प्रगाथ-११० तथा बार्हत प्रगाथ-२ हैं जिससे उसकी कुल छन्द-संख्या १०४०२ होती है।<sup>२</sup>

चरण व्यूह के निम्न श्लोक में, ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएं और एक पाद बताया गया है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च ।

ऋचामशीतिः पादश्च तत्पारायणमुच्यते ॥

अर्थात् ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएं और एक पाद हैं जिनकी अक्षर-संख्या आचार्य शौनक के अनुसार ४,३२००० अक्षर परिमाण होती है।<sup>३</sup> इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक में ऋग्वेद का मान बताते हुए कहा गया है—

“बह्वृचानां शाकलीया दाशतायी संहिता” कि शाकलीय संहिता में बह्वृचों के दशमण्डल हैं (दशमण्डलानि अवयवा अस्या इति दशतायी-संख्याया अवयवे तपम् । डी१ ।) इन दशमण्डलों में ८५ अनुवाक और १०१७ सूक्त हैं।

‘बह्वेवता’ के अनुसार सम्पूर्ण ऋषि वाक्य को सूक्त कहते हैं और बहुत से सूक्तों के संग्रह को मण्डल। सर्वानुक्रमणी में आचार्य शौनक ने कहा है—‘य आंगिरसः शौनको होत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्स गृत्समदो द्वितीय मण्डलमपश्यदिति’—कि गृत्समद ऋषि ने दूसरे मण्डल के सूक्तों का संग्रह किया।<sup>४</sup>

आश्वलायन गृह्यसूत्र में दश मण्डलों के ऋषियों की पहचान दी गई है—

‘शर्तचिनो मध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्याः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता’—



कि शतचि, मध्यम, क्षुद्र और महासूक्त कर्त्ता मण्डलों के ऋषि हैं। शतचिन मधुच्छन्द आदि अगस्त्य पर्यन्त १६ ऋषि हैं जिन्होंने सौ से अधिक ऋचाएं लिखीं। दश से कम ऋचाएं लिखने वाले ऋषि क्षुद्र और दश से अधिक परन्तु सौ से कम ऋचाएं लिखने वाले महासूक्त कहे गए। शतचिन ऋषि प्रथम मण्डल के कर्त्ता हैं और क्षुद्र तथा महासूक्त ऋषि दशम मण्डल के कर्त्ता हैं। इसके अलावा दूसरे मण्डल के कर्त्ता गृत्समद, तीसरे के विश्वामित्र, चौथे के वामदेव, पांचवें के अत्रि, छठे के भरद्वाज, सातवें के वसिष्ठ, आठवें के प्रगाथ और नौवें के पावमान्य ऋषि हैं जो मध्यमा कहे गए हैं। इस प्रकार मंडल-दो से मंडल-नौ तक ऋषि-परिवारों की कृतियां हैं और मण्डल-एक तथा मण्डल-दश अनेकों ऋषियों की अथवा ऋषि-परिवारों की कृतियां हैं।<sup>५</sup>

दाशतायी संहिता सम्बन्धी एक निर्बचन या एक के निरुक्त (२१.२.१६) में भी मिलता है —

‘तदेतद्भोश्च बहुवचनेन चमसस्य च  
संस्तवेत बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति ।’

—इससे ऐसा लगता है कि ऋचाओं के अनेकों संग्रह हुए और उनमें शाकल-संहिता प्रामाणिक मानी गई।

ऋक् प्रातिशाख्य में ऋग्वेद संहिताओं के पांच संग्रहकर्त्ता-ऋषियों से सम्बन्धित निम्न उल्लेख मिलता है—

“ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः ।  
पठितः शाकलेनादौ चतुभिस्तदनन्तरम् ॥  
शाखाश्वालायनो चैव माण्डूक्ये वाष्कलस्तथा ।  
बह्वृचा ऋषभः सर्वे पंचैते एकवेदिनः ॥”

वर्तमान में शाकल संहिता के अतिरिक्त बाष्कल और शाखायन संहिता के कुछ अंश मिलते हैं। बाष्कल संहिता को पं० दामोदर सातवलेकर अष्टक और वर्गों में विभक्त संहिता मानते हैं। शाखायन संहिता में बाल खिल्य मूल संहिता के भाग हैं।<sup>६</sup>

अनुवाकानुक्रमणी में आचार्य शौनक ने खैलकों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“सहस्रमेतत् सूक्तानां निश्चितं खैलकैर्विना”

अर्थात् उसके मत में ऋग्वेद के १०१७ सूक्तों में १७ सूक्त खैलकमंत्रों के हैं। आचार्य कात्यायन ने बालखिल्य सूक्तों की संख्या ११ और मंत्र संख्या ८० लिखी है। पं० सातवलेकर के संस्करण में ३६ खिल सूत्र हैं। मैक्स मूलर ने ३२ और आफ्रेचत ने २७ सूक्त प्रकाशित किए हैं।

खैलकों में पुरोरूक्, निविद, प्रेष, महानाम्नी और कुतांप मंत्रों को भी गिना जाता है जिनमें निविदों की ११ और कुतांप ऋचाओं की संख्या १२ है।<sup>७</sup>

कश्यप का आर्ष—शीर्षक एक और हजार सूक्तों की संहिता रही होगी जिसका

विवरण आचार्य शौनक ने दिया है—

‘जातवेदस्य सूक्त सहस्रमेकमैन्द्रात् पूर्वं काश्यपार्षं  
वदन्ति । जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषामेक  
भूयस्त्वं मन्यसे शाकपूर्णः’—(बृहद्देवता, ३.१३०)

कि एन्द्र सूक्त (ऋक् १।१००) से पूर्व जातवेदस् देवता वाले एक हजार सूक्तों को कश्यप-आर्ष कहते हैं। इन सूक्तों का प्रथम सूक्त जातवेद से (ऋक् १।९९) है। शाकपूर्ण का मत है कि इनमें एक-एक ऋक् की वृद्धि होती है। आचार्य शौनक ने ही इस संबंध में एक श्लोक उद्धृत किया है—

“द्वृचाद्या सहस्रचान्तिं सूक्त नानाविधं भवेत् ।  
नवनवतिः पंचलक्षाः ऋचः स्युः स चतुशतम् ॥  
नाना देवतमेकांषं छन्दोभिश्चित्तमृत्पत्थम् ॥”

जिसका भाव यह है कि दूसरी ऋचा से एक हजार ऋचाओं तक नाना प्रकार के सूक्त हैं। पांच लाख चार सौ निन्यानवे ऋचाए हैं जो विभिन्न देवता वाले, एक ऋषि द्वारा दृष्ट छंदों से विचित्र तथा उत्थ (उत्पन्न) हैं।

इस संबंध में कात्यायन ने भी सर्वानुक्रमणी में कहा है—

‘जातवेदस एका जातवेदस्यमेतदादीन्येक

भूयांसि सूक्त सहस्रमेतत् कश्यपार्षम्’

—कि जातवेदसे सूक्त में एक ऋक् है। जातवेदस् देवता है। इसको आदि में लेकर एक-एक अधिक बढ़ाते हुए एक हजार सूक्त हैं। यह कश्यप का आर्ष है।

विक्रम की सातवीं सदी में हुए स्कन्द स्वामी ने इस सूक्त के भाष्य में लिखा है—

“अतः परं कश्यपार्षम् । उत्सृष्टाध्ययनम् । एकाधिकं सूक्त सहस्रम् । तस्यैत-  
देकर्षम् । आद्यं सूक्तम् । एवं हि भगवान् शौनक आह-पूर्वा-पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेक  
भूयसाम् । जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य सुश्रुम् इति । अस्यैकाधिकानां सहस्रस्य  
कश्यपार्षस्य सर्वं सूक्तेषु पूर्वा पूर्वेणा ऋक् जातवेदस इत्याद्यम् । एकर्वम् इत्येतद् वयमपि  
श्रुतवन्त एव नाधीतवन्त इत्यर्थः ।”

कि इस सूक्त (सूक्त ९८) से परे कश्यप आर्ष है जिसका अध्ययन उच्छिन्न हो चुका है, एक अधिक हजार सूक्त हैं। उसका यह एक ऋक् वाला आदि सूक्त है। इसी प्रकार भगवान् शौनक ने कहा है—‘पूर्वा-सुश्रुम् ।’ कश्यप के जिस एक हजार सूक्तों के आर्ष एक-एक बढ़ने वाले सब सूक्तों में पहला यह ऋक् जातवेदस है। यह आदि सूक्त एक ऋक् वाला है। हमने भी सुना है, अध्ययन नहीं किया, यह अभिप्राय है।

षड्गुरुशिष्य ने स्कन्द स्वामी के इस भाष्य को खोलते हुए निम्न स्पष्टीकरण दिया है—

“खिल सूक्तानि चैतानि त्वाद्यैकर्वमधीमहे ।

शौनकेन स्वयं चोक्तमृष्यनुक्रमणोत्पदम् ॥

पूर्वात् पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेक भूयसाम् ।  
जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य सुश्रुमः ॥ इति  
स यो वृषीयान्ता वेदमह यास्त्वखिल सूक्तगाः ।  
ऋचस्तु पंच लक्षाः स्युः सैकोनशतपंचकम् ॥”

कि ये (हजार सूक्त) खिल सूक्त हैं । उनके आदि में एक ऋक् वाला सूक्त है । शौनक ने स्वयं ऋष्यनुक्रमणी में यह कहा है—एक-एक ऋक् बढ़ने वाले एक हजार सूक्तों के पूर्व से पूर्व जातवेदस ऋक् कश्यप के आर्ष का प्रथम सूक्त है—ऐसा सुनते हैं । वेद के मध्य में अखिल सूक्तों में स्थित स यो वृषा (ऋक् १।१००) तक पांच लाख चार सौ निन्यानवे ऋचाएं हैं ।<sup>६</sup>

इस प्रकार ऋग्वेद-संहिता दो प्रकार से बनी हैं । एक अष्टक और अध्याय-वर्गों में विभक्त है जिसका परिमाण १२००० बृहती छन्द अथवा ४,३२००० अक्षरों वाला है । दूसरी संहिता, दाशतायी संहिता अथवा दश मंडल और अनुवाक—सूक्तों में विभक्त है जो शाकल ऋषि एवं उनके शिष्यों द्वारा संग्रहीत है । इसमें १०५८० ऋचाएं और एक पाद है किन्तु शाकल की मूल संहिता में बाल खिल्य व्यतिरिक्त १०५२२ ऋचाएं ही हैं ।<sup>७</sup>

दोनों ही प्रकार की संहिताओं में ऋचाओं का संग्रह कम अधिक हुआ है । ऐसा लगता है । दाशतायी-संहिता में द्विपदा छन्दों की संख्या १७ में, ७० चतुष्पदा छन्दों को द्विगुणित करके जोड़ने से, अथवा कम अधिक जोड़ने से, ऋचाओं की संख्या घट बढ़ गई है । ‘चरण व्यूह’ के टीकाकार महिदास ने इस विषय को विस्पष्ट किया है और नैमित्तिक १४० द्विपदाओं की पहचान भी दी है । अध्ययन-काल में तो ये चतुष्पदा रहती हैं किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में द्विपदा शंसति—आदि वाक्यों से इन्हें यज्ञ में द्विपदा बनाकर विनियुक्त किया जाता है ।<sup>१०</sup>

कालांतर में इन द्विपदाओं के कारण मंत्र-संख्या में अस्पष्टता होने से ही निम्न व्यवस्था दी हुई प्राप्त होती है—

यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा नित्या ।

तदभेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं पैप्पलादकमिति ॥

अर्थात् छन्दों—शाखाओं में वर्णानुपूर्वी के भेद होने पर भी अर्थ नित्य है—एक है; उसमें भेद नहीं है । केवल वर्णानुपूर्वी का भेद होने से उसमें भेद नहीं होता । वायु पुराणकार ने भी इस विषय में लिखा है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादा सर्वाश्चैवार्थकवाचिका ।

पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा ॥

—६१.५९

× × ×

प्राजापत्या श्रुतिनित्या तद्विकल्पास्त्वमे स्मृताः ॥

—६१.७१

कि इस चतुष्पाद को प्रवचन भेद से अनेक संहिताओं में पाठान्तर से लिखा

गया है। प्रजापति से प्राप्त श्रुतिपाठ नित्य है। केवल शाखा भेद से उसमें विकल्प हैं।”

अष्टक और वर्गों में विभक्त संहिता का उत्तर-भारत में कम प्रचार हुआ और शाकल तथा उसके शिष्यों द्वारा तैयार की गई निर्भुज संहिता, प्रवृष्ण संहिता, क्रम संहिता, पद संहिता और प्रकृति संहिता आदि ने दाशतायी संहिताओं के रूप में प्राधान्य पालिया। ऐतरेय ब्राह्मण (१४५) में लिखा है—

यदस्य पूर्वमपरं यदस्य, यद्वस्य परं तद्वस्य पूर्वम् ।

अहेरिब सर्पणं शाकलस्य, न विजानन्ति यतरत् परस्तात् ॥

अर्थात् शाकल संहिता का जैसा आदि है वैसा ही अन्त है और जैसा अन्त है वैसा ही आदि है। जिस तरह सर्प की चाल आदि से अन्त तक एक समान होती है, इसी तरह शाकल संहिता का क्रम भी एक समान रहता है। फलतः बाष्कल आदि की अष्टक-वर्ग संहिताओं में मंत्र-संख्या और वर्ग-संख्या शाखा भेद से बढ़ गयी—ऐसा दीख पड़ता है।

फिर भी ऋग्वेद के मण्डल-एक में ‘वृजनं जीरदानुम्’—अन्त वाले, मंडल-दो में ‘विदथेषु सुवीराः’—अन्त वाले, मण्डल-तीन में ‘सञ्जितं धनानाम्’—अन्त वाले, मंडल-चार में ‘रथ्यः सदासा’—अन्त वाले—इत्यादि सूक्तों का क्रम सकारण है। इसी प्रकार मण्डल-दस के ५८वें सूक्त के प्रत्येक मंत्र में ‘मनो जगाम दूरकम्’ और ‘क्षयाय जीवसे’—पद हैं। मंडल-१ के ८०वें सूक्त में ‘अर्चन्तनु स्वराज्यम्’ और मण्डल-२ के १२वें सूक्त में ‘स जनास इन्द्रः’—आदि पादों का विनियोग, ऋग्वेद के निश्चित स्वरूप की ओर इंगित करते हैं। वह स्वरूप आज की संहिताओं में गडमड हुआ दीख पड़ता है। इसका एक उदाहरण ऋग्वेद के दशवें मंडल के १२१ वें सूक्त में देखा जा सकता है; जहां ‘कस्मै देवाय हविषा विधेमः’—अन्त वाली १० ऋचाओं में, वर्तमान में केवल ९ ही ऋचाएँ हैं और निम्न दशवीं ऋचा अर्थववेद (४.२.८) में जा मिली है—

आपो वत्सं जनयतीगंभंभग्रे समैरयन् ।

तस्योत जायमानस्य उत्व आसीद्विरण्ययः ।

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥



### सन्दर्भ

\* अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के ३७वें रोहतक अधिवेशन में पठित आलेख

१. स ऋचो व्यीहत द्वादश वृहती सहस्राणि,

एतावत्यो हि ऋचो याः प्रजापति सृष्टाः ।

मानव दिन रात में १०८०० (प्राण+अपान) लेता-छोड़ता है। वर्ष में मुहूर्तों की संख्या भी १०८०० होती है। तदनुसार ऋग्वेद में १०८०० पंक्तियाँ मानी जाती हैं और प्रति पंक्ति में ४० अक्षर होने से ऋग्वेद का अक्षर संख्या भी ४,३२००० ही बनेगी।

२. एक पंचाशद् ऋग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके ।

सहस्रं द्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु ॥१॥

त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत्तथोष्णिहः ।  
 अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पंचाशत्पंचसंयुताः ॥२॥  
 बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः ।  
 शतानि त्रीणि पंक्तीनां द्वादशभ्यधिकानितु ॥३॥  
 पंचाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोधिकाः ।  
 सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेयं तु शतद्वयम् ॥४॥  
 चत्वारिंशत्तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम् ।  
 जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम् ॥५॥  
 दशैवातिजगत्योऽपि तथा सप्त न संशयः ।  
 शक्वर्योऽपि तथैवोक्तास्तथा नव त्रिचक्षणैः ॥६॥  
 नव चैवातिशक्वर्यैः षडष्टयः प्रकीर्त्तिताः ।  
 अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टि ऋचः स्मृताः ॥७॥  
 धृतिद्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च ।  
 एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दशसप्त च ॥८॥  
 प्रगाथा बार्हता येऽत्रतेषां शतमुदाहृतम् ।  
 चतुर्नवति रेवोक्तास्तद्वद् द्वाचास्त्वसंशयाः ॥९॥  
 काकुभानां तु पंचाशद् विज्ञेयाः पंचसंयुताः ।  
 महाबाहृत ऐवंकः एवं सार्धंशतद्वयम् ॥१०॥  
 एवं दश सहस्राणि शतानां तु चतुष्टयम् ।  
 ऋचां द्वयधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥११॥

३. गणना करने पर इन १०४०२ ऋचाओं का अक्षर-परिमाण ४,१६२०४ होता है। शेष १५७९६ अक्षर-परिमाण से १७८ ऋचाएं और एक पाद बनेगा जो यहां उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान शाकल संहिता में विषमपदा, अभिसारिणी, स्कंधोग्रीवी, महापंक्ति, उरोबृहती, यवमध्यमाबृहती आदि छन्द मिलते हैं जो इस परिशिष्ट में परिगणित नहीं हैं।
४. 'ऋषि सूक्तानि यावन्ति सूक्तान्येकस्य वैकृतिः। स्तूयैतैकां तु यावत्सु तत्सूक्तं देवतं विदुः। समानच्छन्दसो मंत्राश्छन्दसूक्तं तदुच्यते-इति।'
५. ऋषियों के चार प्रकार कहे गए हैं—'ऋषीणामृषिपुत्राणामृषिकाणां स्वयंभुवाम्। तैथानामाभिजानीयाद्यथैषां मंत्रदृष्टयः प्रवर्ये समाख्याता ऋषयस्त इति श्रुतिः। तत्पुत्र पौत्रनप्तार ऋषिपुत्रा इति स्मृताः। राजन्यवैश्या ऋषिकाः स्त्रिय स्तास्तिर्यग्योनयः। देवाऽदेवाप्सरो नद्यो गन्धर्वास्ते स्वयंभुव।'  
—इस संबंध में सर्वानुक्रमणी में आचार्य शौनक भी कहते हैं—  
'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता। यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः। अर्थेऽस्य ऋषयो देवताश्छन्दोभि रूपाधावन्। इति'
६. शांखायन शाखा की एक संहिता में बालखिल्य मूल—संहिता का भाग है। कश्मीर में मिली एक प्रति में खिल भाग के पांच अध्याय ऋषि, छन्द, देवता

और मंत्र संख्यादि सहित दिए मिले हैं।—देखें, “एपोक्रीफेन डेस ऋग्वेद”,  
बोन, १९०६ (पत्रक १७६-१८९)।

जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनू के वर्द्धमान  
ग्रन्थागार में भी ऋग्वेद की एक दुर्लभ प्रतृण संहिता है जो अष्टक और वर्गों  
में लिखी है। पं० सदाशिव उपाध्याय पुत्र सखीबा उपनाम पराङ्कर द्वारा यह  
संहिता ज्येष्ठ वदि सप्तमी सोमवार प्रमोद-संवत्सर विक्रमी सं० १८५६ में एक  
अष्टक पूर्ण करके कार्तिक वदि द्वितीया सोमवार वृष-संवत्सर सं० १८६७ में  
पूरी हुई है। प्रति में क्रमशः ८३+७४+८०+८१+८१+९२+९४+९२  
क्रम से कुल ६७७ पत्रक हैं और आठों अध्यायों में क्रमशः २६५+२३१+  
२२५+२५०+२३८+३३१+३५६+२४६=कुल २०३२ वर्ग हैं।  
इसके छठे अष्टक के चौथे अध्याय में वर्ग १४ वें से ३१ वें तक १८ वर्ग बाल-  
खिल्यों के हैं।

७. निविद, पुरोक्क, प्रैष और कुतांप ऋक् भी खिल भाग में शामिल होती है।  
बृहदेवता (८.१०४) और शांखायन श्रौत सूत्र (८.१६-२३) में निविद ऋचाएं  
हैं जो गद्य रूप में हैं।

८. शौनक ऋषिकृत आर्षानुक्रमणी सम्प्रति अनुपलब्ध है किन्तु यह स्पष्ट है कि  
कश्यप आर्ष में एक हजार सूक्त थे और षड्गुरुशिष्य के अनुसार उनमें पांच  
लाख चारसौ निन्यानवें मंत्र (ऋचाएं) थे। इस प्रकार सम्भवतः यह ऋग्वेद की  
कोई बड़ी शाखा थी।

९. लौगाक्षिस्मृति में यह स्पष्टीकरण दिया हुआ है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च।

ऋचामशीतिः पादश्च पारायण विधौ खलु ॥

पूर्वोक्त संख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्त सूत्रगाः।

मंत्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः ॥

१०. “हवने एकैका अधप्रयने द्वे द्वे आमनन्ति।”

‘पश्वानतायुम्’ (१.६५.१-१०) — दश

‘रयिनं’ (१.६६.१-१०) — दश

‘वनेष’ (१.६७.१-१०) — दश

‘श्रीणन्’ (१.६८.१-१०) — दश

‘शुक शुशुक्वान्’ (१.६९.१-१०) — दश

‘वनेम पूर्वीः’ (१.७०.१-१०) — दश

‘अग्नेत्वं नः’ (५.२४.१-४) — चत्वारि

‘अग्नेभव’ (७.१७.१-६) — षट्

‘प्रशुकैतु’ (७.३४.१-१०) — दश

‘राजा राष्ट्राणाम्’ (७.३४.११-२०) — दश

‘कई व्यस्ता’ (७.५६.१-१०) — दश

‘बध्नुरेको’ (न. २९.१-१०)—दश

‘परि प्रधन्व’ (९.१०९.१-१०)—दश

‘तं ते सोतारः’ (९.१०९.१-१२) द्वादश

‘इमानुकम्’ (१०.१५७.१-४)—चत्वारि

‘अपाहिवनसा’ (१०.१७२.१-४)—चत्वारि

इति नैमित्तिक द्विपदा चत्वारिंशत्तरशतम् (१४०)

इति ।’—(देखें :—चौखंबा सीरिज, काशी, सं० १९९५) ।

११. टीकाकार महिदास ने वर्ग संख्या और मंत्र संख्या से सम्बन्धित कुछ प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं—

एकर्च एकवर्गश्च एकर्च नवकस्तथा ।

द्वौ वर्गा तु द्वौ जेयी ऋक् त्रयस्यशतं स्मृतम् ॥

चतुर्ऋचां पंच सप्तत्यधिकं च शतं तथा ।

पञ्चर्चं तु द्वि शतकं सहस्रं रुद्र संयुतम् ॥

पञ्च चत्वार्यधिकं षट् ऋचा तु शतत्रयम् ।

सप्त ऋचां शतं जेयं विंशतिश्चाधिका स्मृताः ॥

अष्ट ऋचां तु पंचाशत् पंचाधिकास्तथैव च ।

दशाधिकं द्विसहस्राः पंच शाखासु निश्चिताः ॥

वर्गाः संज्ञान सूक्तस्य चत्वारश्चात्र मीलिताः ।

एवं पारायणे प्रोक्ता ऋचां संख्या न न्यूनतः ॥

ये श्लोक अशुद्ध दीखते हैं किंतु इनमें ऋषि शाकल और उनके चार शिष्यों द्वारा संग्रहीत पांच शाखाओं की मंत्र-संख्या दी हुई है। संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाएं भी इसमें शामिल हैं और वर्ग-संख्या भी २०१० बताई गई है।



## गांधीजी की शिक्षा में मूल्यपरक तत्त्व

□ कुमुद सिन्हा

शिक्षा मानव के लिये है। मानव क्या है ? इसके लक्ष्य क्या है ? इन प्रश्नों के उत्तर अलग-अलग ढंग से शिक्षा दार्शनिकों के द्वारा दिए गये हैं। मानव का जो स्वरूप बनता है और उसके जीवन के जो लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं—इन्हीं के अनुरूप उनके लिए मूल्यों का निर्धारण किया जाता है। यदि मानव का स्वरूप पूर्णतः भौतिक मान लिया जाता है तो स्वभावतः उसके जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख-समृद्धि को प्राप्त करना होता है। अतः वह भौतिक विकास तथा उसके विकास के साधन को ही मूल्य समझता है, जो मानव को मूलतः आत्मा, ईश्वर या ब्रह्म तत्त्व मानते हैं, वे आत्मानुभूति ईश्वरानुभूति या ब्रह्मानुभूति ही जीवन का परम ध्येय मानते हैं, उनके लिए विश्व की सारी भौतिक चीजे निस्सार मालूम पड़ती हैं। वे केवल मोक्ष और मोक्ष साधन (धर्म तथा नैतिकता) को जीवन का वास्तविक मूल्य समझते हैं। परन्तु जो मानव को भूत और चैतन्य का अखण्ड रूप मानते हैं, उनके लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष संक्षेप में विज्ञान और अध्यात्म सभी जीवन के मूल्य माने जाते हैं जिन्हें सिद्ध कर मनुष्य अपने आप में संतोष का अनुभव करता है। इस प्रकार मूल्य क्या है और जिन मूल्यों की प्राप्ति का हमें प्रयास करना चाहिए—ये सब अलग-अलग सिद्धांतों पर निर्भर हैं तथा देश, काल और मानव के ज्ञान के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

शिक्षा मूल्यों के साथ अवियोज्य रूप से जुड़ी होती है। क्योंकि जिसे हम मूल्य समझते हैं, शिक्षा के द्वारा उसे हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सिद्ध करते हैं। शिक्षा इन मूल्यों को जीवन में साकार करने का साधन है। अतः कोई भी शिक्षा मूल्य विहीन नहीं हो सकती। फिर शिक्षा में मूल्यपरकता या मूल्यपरक शिक्षा की बात अपने आप में एक पुनरुक्तिमात्र मालूम पड़ती है। परन्तु जब शिक्षा विकृतियों के कारण निरुद्देश्य बन जाती है अथवा यह समाज की वांछित आवश्यकताओं की पूर्ति में असफल हो जाती है तब हमें आवश्यकता होती है कि इसमें उन तत्त्वों का प्रवेश कराया जाए जिनसे वांछित आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकें। अतः मूल्यपरक शिक्षा और गांधी की शिक्षा में मूल्यपरक तत्त्व से आशय शिक्षा में उन मूल्यों के प्रवेश से है जिनकी वर्तमान समाज में आवश्यकता महसूस हो रही है।

**गांधीवादी शिक्षा की पृष्ठभूमि :**

गांधीजी उस काल में पैदा हुए जब भारतीय समाज मूल्यों के संकट से गुजर रहा



था। नैतिक मूल्यों का पतन हो चुका था। मानव की गरिमा का कोई महत्व नहीं था। मनुष्य मानसिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक दासता का शिकार था। सर्वत्र शोषण का बोलबाला था। धर्म के स्थान पर नास्तिकता पनप रही थी। अपनी नैतिक, धार्मिक और सादा जीवन तथा उच्च विचार की संस्कृति को युवक दीन हीन मान रहे थे, विदेशी संस्कृति की भी नकल जोरों पर थी। पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता ही सभ्यता का पर्याय माना जा रहा था। भारतीय संस्कृति खतरे में थी। अंग्रेजी शिक्षा अपनी धरती पर ही युवकों को विदेशी बना रही थी। शिक्षा में नैतिकता तथा चरित्र का कोई स्थान नहीं था। यह मात्र बौद्धिक विकास तक सीमित थी। उत्तम भावनाओं के विकास का शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। शिक्षा मात्र सूचना संग्रह का साधन थी। इसका लक्ष्य व्यक्ति का सर्वांगिक विकास नहीं बल्कि अंग्रेजी शासन का एक यंत्र तैयार करना था। शिक्षकों की दशा दयनीय थी। हम एक निराशा की स्थिति में जी रहे थे। सर्वत्र गरीबी और बेरोजगारी थी। आवश्यकता थी सबको आत्म निर्भर बनाने की और उनमें आत्म शक्ति तथा प्रेम शक्ति के विकास करने की। समाज में जाति-पांति, ऊँच-नीच और छुआछूत की प्रथा थी, नारी की स्थिति बहुत ही दयनीय थी। अतः आवश्यकता थी ऐसी शिक्षा की जो समाज के विभिन्न वर्गों को आपस में जोड़ सके और सामाजिक भावना का विकास कर सके। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गांधी के काल में मानवतावादी-मूल्यों का ह्रास हो चुका था और स्वार्थवादी विषमतामूलक तथा वस्तुवादी संस्कृति का तेजी से विकास हो रहा था। अतः गांधी ने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि ऐसी शिक्षा पद्धति का विकास किया जाए जिससे सम्पूर्ण मानव और मानवता का विकास हो सके तथा एक अहिंसक सर्वोदय समाज का निर्माण हो सके। इसके लिए उन्हें एक और गुरुकुल की मूल्यपरक शिक्षा से प्रेरणा मिली तो दूसरी और रस्किन ओर टाल्सटॉय से शिक्षा को समाजोपयोगी कर्म से जोड़ने का विचार सामने आया। अपनी अनुभूति से उन्होंने अपनी शिक्षा पद्धति में व्यक्ति और समाज के लिए सभी उपयोगी मूल्यों का प्रवेश कराया जिससे उनकी शिक्षा मूल्यपरक शिक्षा का पर्याय बनीं है।

सामान्यतः शिक्षित व्यक्ति वह माना जाता है जो लिखना पढ़ना जानता है। जिसने विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की है, वह व्यक्ति अधिक शिक्षित माना जाता है क्योंकि उसने पुस्तकों के अध्ययन से काफी ज्ञान अर्जित किया है। परन्तु गांधी की दृष्टि में साक्षरता न तो शिक्षा का शुभारम्भ है और न इसकी चरम परिणति। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य चारित्रिक विकास करना है। चारित्रिक विकास का अर्थ है व्यक्ति में साहस, शक्ति, धैर्य, क्षमता, सद्गुण तथा महान् उद्देश्य के लिए अपने को समर्पित करने वाले गुणों का विकास करना। चारित्रिक विकास का वास्तविक अर्थ मानवीय गुणों का विकास है। इस दृष्टि से एक भोंपड़ी में रहने वाला किसान जो आचरण से पवित्र है तथा अपने परिवार और समाज के प्रति ईमानदारी से कर्तव्य का पालन करता है, निरक्षर रहने पर भी अधिक शिक्षित है वनिस्पत उस व्यक्ति के जो विश्वविद्यालय से सर्वोच्च डिग्री प्राप्त कर महलों में रहता है और

समाज का शोषण करता है। वस्तुतः वह शिक्षा है ही नहीं जिसमें बहुजन सुखाय का भाव नहीं है। वर्तमान शिक्षा से यह मानवीय तत्त्व लुप्त होता जा रहा है। यह शिक्षा भौतिकवादी शिक्षा है। चेतना और संवेदना के विकास से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह मूल्यविहीन है। शिक्षा का लक्ष्य हमारी कोमल भावनाओं का विकास करना है। अतः गांधी की शिक्षा में चारित्रिक और भावनात्मक शिक्षा का विकास प्रमुख मूल्यपरक तत्त्व है। श्री एम० एस. पटेल ने ठीक ही लिखा है कि—“गांधी की शिक्षा में निश्चित रूप से केवल साक्षरता या मात्र ज्ञान की प्राप्ति से अधिक स्वास्थ्य और नागरिक शिक्षा, सांप्रदायिक सद्भाव के विकास, छोटे-छोटे उद्योगों की शिक्षा तथा समुचित सांस्कृतिक और मनोरंजनात्मक क्रिया कलापों की व्यवस्था पर अधिक बल दिया गया है। इसके पीछे मुख्य विचार यह है कि सामाजिक शिक्षा का लोगों के सामान्य जीवन स्तर, भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक को ऊपर उठाने का प्रयास करना चाहिए और उन अभावों के उन्मूलन में योगदान देना चाहिये जिससे अधिकांश जनता पीड़ित हो”।

चाहे व्यक्ति की स्कूली शिक्षा हो या वयस्कों की सामाजिक शिक्षा सर्वत्र गांधी ने मानवीय मूल्यों को प्रधानता दी है। साक्षरता और ज्ञान तो इन मूल्यों के सिद्धि के साधन हैं। आचारविहीन ज्ञान, श्रम के विहीन सम्पत्ति, अन्तरात्माविहीन आनन्द, नैतिकताविहीन व्यापार, मानवताविहीन विज्ञान, त्यागविहीन पूजा और सिद्धांत-विहीन राजनीति—सभी गांधी की दृष्टि में निरर्थक हैं। अतः गांधी की शिक्षा में प्रत्येक ज्ञान और व्यापार के अन्तर्गत मूल्यों का प्रवेश अनिवार्य माना गया है।

## शिक्षा और धर्म

भारतीय शिक्षा प्राचीनकाल में धर्म के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी थी। वैदिक, बौद्ध और जैन सभी में शिक्षा का विकास धर्म के माध्यम से हुआ है। गुरुकुल की शिक्षा में धार्मिक क्रियाओं का अभ्यास सहज रूप से छात्रों को मिल जाता था। अंग्रेजी शिक्षा में धर्म निरपेक्षता पर बल दिया गया। गांधी ने अपने शिक्षा सिद्धांतों और प्रयोग में गुरुकुल की धर्म निष्ठा और आधुनिक युग की धर्म निरपेक्षता दोनों को समन्वित करने का प्रयास किया। एक ओर उन्होंने अपनी शिक्षा की वर्धा योजना में प्रचलित धर्म की शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं दिया तो दूसरी ओर उन्होंने शिक्षा ही क्या राजनीति, अर्थ तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म की दृष्टि से ही मूल्यांकन करने का प्रयास किया। वर्धा-योजना में धर्म शिक्षा को स्थान नहीं देने का कारण था देश की एकता की रक्षा और तथाकथित धर्म से देश की एकता पर खतरा उत्पन्न हो सकता था परंतु सही अर्थों में उन्होंने धर्म को शिक्षा का अनिवार्य अंग माना। प्रश्न है—गांधी की दृष्टि में धर्म क्या है? गांधी की दृष्टि में धर्म न तो अन्धविश्वासों के प्रति समर्पण है और न कर्मकांडों का यांत्रिक अभ्यास। वास्तविक धर्म, हिन्दू, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों से ऊपर है। धर्म मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन लाता है। यह हमें सत्य, प्रेम, न्याय तथा अन्तरात्मा की आवाज से अविभाज्य रूप से जोड़ता है। धर्म का काम हर

व्यापार को शुद्ध करना है। यह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्त्व है। यह मानव के अन्दर की व्याकुलता है जिसे समाप्त करने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए हम तैयार रहते हैं। धर्म मानव को सृष्टिकर्ता, सत्य या ईश्वर या आत्मा के साथ जोड़ता है। गांधी द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपर्युक्त अर्थों को देखने से स्पष्ट होता है कि गांधी का धर्म पंथिक धर्म नहीं, नैतिक धर्म है। सच्चा धर्म और सच्ची नैतिकता एक दूसरे से जुड़े होते हैं। जिस प्रकार पौधों के विकास के लिए मिट्टी का सिंचन, आवश्यक है उसी प्रकार धर्म के विकास के लिए नैतिकता रूपी जल की आवश्यकता होती है। वह सभी धर्म गांधी की दृष्टि में त्याज्य है जिसके पीछे विवेक और नैतिकता का आधार प्राप्त नहीं है। अतः गांधी ने हर धर्म का अध्ययन नैतिक विकास की दृष्टि से करने की सलाह दी। उनका मानना था कि प्रत्येक धर्म एक ही गन्तव्य (सच्चे धर्म) तक पहुँचने के विविध मार्ग है। अतः हमें सभी धर्मों का सम्मान के साथ अध्ययन करना चाहिए। अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के गहरे अध्ययन से हमें सभी धर्मों की एकता का गहरा अनुभव प्राप्त होगा और सांप्रदायिकता के विकास समाप्त हो जाएंगे। अतः गांधी के धार्मिक शिक्षक में सर्वधर्म समभाव का सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

आत्मानुभूति, ब्रह्मानुभूति अथवा सत्यानुभूति, गांधी प्रणीत धर्म का साध्य है और अहिंसा उसका साधन। गांधी की दृष्टि में मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति प्राप्त करना है जिसका तात्पर्य है ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना जो निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति अथवा मोक्ष कहा जा सकता है। इसलिए मोक्ष ही शिक्षा का चरम उद्देश्य है। गांधीजी ने विद्यार्थियों से कहा कि उनका लक्ष्य एक सच्चा ब्रह्मचारी बनना है और सच्चा ब्रह्मचारी वह है जो ईश्वर की खोज करता है। ईश्वर कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इस संसार से परे कहीं अलग निवास करता हो और मानव की प्रशंसा और स्तुति का विषय हो। उनकी दृष्टि में सत्य ही ईश्वर है और सत्य अणु-अणु में व्याप्त है और इस लोक से परे भी है। वह विश्व का विशाल नियम भी है और गांधी की दृष्टि में नियम और नियामक में कोई भेद नहीं। इसलिए धर्म का लक्ष्य सृष्टि के व्यापक नियमों को जानना है और उन्हें जानकर अपने आचरणों का विकास करना है। जब हम सापेक्ष और निरपेक्ष नियमों को जान लेते हैं तब हम सारे दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। हमें सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त होती है जो शिक्षा का लक्ष्य है।

गांधी के अनुसार शिक्षा वह है जो हमें मुक्ति दिलाती है—“सा विद्या या विमुक्तये।” परन्तु गांधी की दृष्टि में मुक्ति का अर्थ केवल आध्यात्मिक मुक्ति नहीं है। वे मुक्ति को समग्र दृष्टि से लेते हैं। मुक्ति में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की स्वतंत्रताएं सम्मिलित हैं। इसलिए गांधी की दृष्टि में शिक्षा का अभिप्राय है—सर्वांग रूप से स्वतन्त्रता के सभी मूल्यों को जीवन में सिद्ध करना। हमारी शिक्षा इसी मूल्य की सिद्धि का साधन है।

प्रश्न है कि सत्य और स्वतंत्रता या ब्रह्मांड के नियमों को कैसे अनुभूत किया जा

सकता है ? गांधी की दृष्टि में वह साधन है हमारी नैतिकता और नैतिकता का शिरोमणि प्रयत्न है अहिंसा । जीवन में जितने भी उपयोगी मूल्य हैं, कोई भी निरपेक्ष नहीं है । वे विभिन्न अपेक्षाओं से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । अहिंसा अपने आप में वह मूल्य है जो ईश्वर, सत्य, आत्मानुभूति आदि मूल्यों की प्राप्ति का साधन है । गांधी का मानना है कि जब हम आध्यात्मिक एकता को प्राप्त करना अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तो इसकी सिद्धि हिंसक साधनों से नहीं हो सकती है । पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन की भी आवश्यकता पड़ती है । इसलिए चरम आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए हमें सृष्टि में हर प्राणी से प्रेम करना है । अपने पड़ोसियों की सेवा करनी है । दरिद्रनारायण की सेवा करना ही ईश्वर की प्राप्ति का सच्चा मार्ग है । इसलिए गांधी ने अपने धार्मिक मूल्यों में समाज सेवा के मूल्यों को अवियोज्य रूप से जोड़ दिया है । शिक्षा का उद्देश्य है समाज सेवा में मूल्यों को हर शिक्षार्थियों में प्रवेश कराना ।

यहां यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है कि गांधी की अहिंसा भी सत्य की भांति ही एक जटिल मूल्य है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के मूल्य आपस में सुसंगठित हैं । गांधी की अहिंसा केवल सत्य, प्रेम, करुणा, मैत्री और आध्यात्मिक मूल्यों का ही नाम नहीं है बल्कि यह अपने में समता, स्वतंत्रता, भावृत्व, सर्वधर्म समादर, अशोषण, सर्वोदय, सहयोग, सद्भाव, शरीर श्रम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्वदेशी इत्यादि सामाजिक मूल्यों को भी अपने में समाविष्ट करती है । अतः गांधी के धार्मिक विचार में नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक सभी प्रकार के मानवीय मूल्यों का समावेश हो जाता है जिनका विकास करना हमारी शिक्षा का उद्देश्य है ।

### अध्यात्म एवं विज्ञान का समन्वय

गांधी भी शिक्षा में अध्यात्म एवं विज्ञान आदर्शवाद और प्रकृतिवाद दोनों का मणिकांचन संयोग है । वे शिक्षा के द्वारा एक ओर शिक्षार्थी में वैज्ञानिक प्रायोगिक और सहज उपलब्ध प्रवृत्तियों का विकास करना चाहते हैं तो दूसरी ओर शिक्षा के द्वारा आत्मशक्ति, प्रेमशक्ति, नैतिकशक्ति और सत्यशक्ति का भी विकास करना चाहते हैं । जब तक मानव में इन दोनों प्रकार की वैज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्तियों का विकास नहीं होता तब तक उसका समग्र विकास सम्भव नहीं है और गांधी की दृष्टि में शिक्षा का लक्ष्य समग्र मानव का निर्माण करना है । अतः अध्यात्म और विज्ञान दोनों प्रकार के मूल्यों का विकास करना मानवीय दृष्टि से आवश्यक है । डॉ. रामजी सिंह का कहना बिल्कुल सत्य है कि गांधी की शिक्षा की अवधारणा अखण्ड मानव के अध्ययन की अवधारणा है जो अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय है ।

### शिक्षा और शांति

गांधी के शिक्षा सिद्धांत में शांति के मूल्यों के विकास पर भी अधिक बल दिया गया है क्योंकि यदि शिक्षा का लक्ष्य सर्वोदय समाज का निर्माण करना है तो शांति शिक्षा के बिना यह सम्भव नहीं है । हमें शिक्षा के द्वारा युद्ध के दुष्परिणामों को समाज

के सामने प्रस्तुत करना होगा। जब तक समाज से हिंसक परिस्थितियों—सामूहिक नरसंहार, उत्पीड़न, दबाव और शोषण तथा विदेशीकरण का उन्मूलन नहीं हो जाता तब तक, मानव की सुरक्षा, स्वतंत्रता, अस्तित्व, कल्याण सम्भव नहीं है और शांति की अपेक्षा रखना तो दूर की बात है। शांति एक ओर तो समस्त हिंसक घटनाओं के निराकरण की अपेक्षा रखती है तो दूसरी ओर यह समाज के सर्वाङ्गीण विकास का पर्याय है। गांधी की शिक्षा में केवल शांति शिक्षा का ही प्रावधान नहीं है बल्कि तथ्य तो यह भी है कि यह शांति के लिए ही शिक्षा है। समस्त शिक्षा लक्ष्य मानव की सर्वाङ्गीण शक्ति की प्राप्ति है इसलिए शांतिपरक मूल्यों का विकास शिक्षा का उद्देश्य है।

### मूल्यपरक शिक्षा की पद्धति

मूल्यपरक शिक्षा के विकास की सबसे जटिल समस्या इसकी पद्धति है क्योंकि सभी पद्धतियों से मूल्यपरक शिक्षा का विकास नहीं हो सकता। गांधी ने इसके विकास के लिए बिल्कुल ही वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया है जिसमें समवाय पद्धति उल्लेखनीय है। कोई भी मूल्य तत्त्वों से बिल्कुल अलग नहीं होता। इसलिए जीवन और क्रिया रूपी तथ्यों से उन्हें अलग कर विकसित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में आचरण एवं व्यवहार में बिना प्रवचन, भाषण एवं कक्षाओं के पाठ्यक्रम के द्वारा मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती है। कक्षा की पद्धतियों से कुछ सूचनाएं दी जा सकती हैं। कुछ दूर तक तर्कना शक्ति प्रदीप्त की जा सकती है परन्तु इस पद्धति से शिक्षार्थियों के हृदय के भावों को तथा मानवीय संवेदनाओं को जगाया नहीं जा सकता है इसलिए भावात्मक और आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए चरित्रनिष्ठा, शुद्ध और पवित्र शिक्षक की आवश्यकता होती है। एक नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षक ही नैतिकता एवं अध्यात्मिकता की सच्ची शिक्षा दे सकता है। इसीलिए गांधी ने कहा है कि एक अध्यात्मिक रूप से समर्थ शिक्षक सैकड़ों मील दूर रहकर भी विद्यार्थियों को प्रेरित कर सकता है। इसलिए मूल्यपरक शिक्षा के विकास में शिक्षकों की अहम् भूमिका हो जाती है।

अतः आज मानवीय मूल्यों के संकट के काल में गांधी की मूल्यपरक शिक्षा और शिक्षा पद्धति से ही हमें रोशनी मिल सकती है। यदि मूल्यपरक शिक्षा को भी हम विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में भाज की शिक्षा की भांति चारदीवारियों के अन्तर्गत कैद करना चाहेंगे तो शायद उससे बहुत कुछ लाभ होने वाला नहीं है। सच्चा लाभ तो तब होगा जब मूल्यों को हर व्यापार से जोड़ने का प्रयास किया जाएगा और मूल्यपरक व्यक्ति को समाज में समुचित प्रतिष्ठा मिलेगी। समाज का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि वर्तमान व्यवस्था में मूल्यपरक व्यक्ति समाज से समुचित मूल्यांकन के अभाव में कटते जा रहे हैं और सामाजिक दायित्व मूल्यहीनों के हाथों में समर्पित किया जा रहा है। भीड़तंत्र, जातितंत्र, बोटतंत्र और अर्थतंत्र के सहारे हम मूल्यतंत्र की ओर प्रस्थान नहीं कर सकते। इसके लिए तो गुणतंत्र, समाजतंत्र,

विवेकतंत्र और अपरिग्रहतंत्र का सहारा लेना होगा। जीवन और मूल्यों को अलग-अलग रखकर मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती। इसका माध्यम साक्षात् जीवन, व्यवहार और आचार है।



## References

1. "There is a definite shifting of emphasis from mere literacy or acquisition of knowledge to health and civil education, to the promotion of communal harmony, to the teaching of simple crafts, and the provision of suitable cultural and recreational activities. The underlying idea is that social education should aim at the raising of the general level of people's life—material, moral, cultural and spiritual and contribute purposefully to the eradication of some of the deprivations from which our masses have been suffering". Patel, M. S., *Educational Philosophy of Mahatma Gandhi* (Ahmedabad, Navajivan Publishing House, 1953) p. 241.
2. "Gandhi's concept of education is integral study of man which can be supported by a synthesis of science and spirituality"—Singh, Ramji; "Gandhi and Value Education", *Tulsi Prajna*, (Value Education Number, Vol. XIX, No. 1, January-March 1993) Research Quarterly, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, p. 17
3. "peace is a situation where needs for survival (security), freedom, welfare and identity are met. The threats to these four types of needs are Violence, repression, misery, and alienation. The two former are aspects (material and non-material) of direct violence. The two latter are aspects of structural violence. Should any of these threats materialise, peace is broken".  
—Sorensen, Georg; "peace Research between Utopianism and conventionalism : Violence and Non-violence—The Gandhian Heritage", *Gandhi Marge*, Special Issue on Non-violence, Vol. 14, No. 1 April-June 1992, p. 54
4. Gandhi, M. K.; *Towards New Education*, p. 22 And Singh, Dashrath. *Gandhivad Ko Vinova Ki Den*, (Patna Bihar Hindi Granth Academy, 1975) p. 571



## प्रकीर्णकम्

१. नागौर—इतिहास के झरोखे से
२. तेरापंथ शब्द—वैज्ञानिक अध्ययन
३. 'महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान में, उपलब्ध सूक्तियां
४. तुलसी स्तोत्रम् : एक परिचय





## नागौर—इतिहास के झरोखे से

फणिलाल चक्रवर्ती

राजस्थान के इतिहास में नागौर की एक प्रमुख भूमिका रही है। पुरातात्विक अनुसंधानों के प्रकाश में यह सिद्ध हो गया है कि यह क्षेत्र आदि मानव की शरणस्थली था। जिले के ग्राम जायल तथा निकटवर्ती स्थानों में किए गए उत्खनन कार्यों के परिणामस्वरूप यहां दो लाख वर्ष प्राचीन पाषाण-उपकरण प्राप्त हुए हैं। उत्खनन द्वारा पुरातत्ववेत्ताओं ने यहां के प्राचीन पर्यावरण का अध्ययन भी किया है। प्राचीन स्थल कुराड़ा (तहसील परबतसर) से चार हजार वर्ष पूर्व की ताम्र-सामग्री के भण्डार मिले हैं। यह उपलब्ध भारतीय पुरातत्व की एक अमूल्य निधि है तथा इनमें से कुछ बर्तन सभ्यताओं के उषाकाल में भारत तथा ईरान के सम्बन्धों की ओर इंगित करते हैं।

प्राचीन साहित्य और शिलालेखों में इस क्षेत्र का उल्लेख सपादलक्ष और “अहिच्छत्रपर” अथवा “नागहृद” के रूप में भी हुआ है। कर्नल गेम्स टाड ने इसका नाम “नागदुर्ग” बतलाया है तथा जैन धर्म के हस्तलिखित ग्रन्थों में यह “नागउर” के रूप में सम्बोधित किया गया है। प्रतीत होता है कि कालांतर में इन्हीं शब्दों से वर्तमान नागौर बना जो ७०० वर्ष प्राचीन फारसी तवारीखों में मिलता है।

नागौर राजस्थान का एक महत्वपूर्ण स्थान था। दिल्ली-सिन्ध के राजमार्ग पर स्थित होने के कारण यह मध्य युग में एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी रहा है। इसी कारण यह समय-समय पर चौहान, दिल्ली के सुल्तान, मुगलों व राठौड़ शासकों के अधिकार क्षेत्र का प्रमुख केन्द्र रहा। चौहान नरेश पृथ्वीराज ने सन् ११५४ ई० में इस किले का निर्माण करवाया। परवर्ती शासकों ने निर्माण की इस परम्परा को जीवित रखा तथा अपने योगदान से किले की शोभा में वृद्धि की।


अकबर का नवरत्न तथा “आईने अकबरी” का लेखक अबुलफजल नागौर का ही निवासी था। मध्यकालीन इतिहास को अनेक जानी-मानी विभूतियां नागौर से सम्बन्धित रही हैं। अपरंच, नागौर को अत्यधिक ख्याति, अनुपम योद्धा अमरसिंह राठौड़ की जागीर होने के कारण मिली।

राव अमरसिंह राठौड़ का जन्म वि० सं० १६७० की पोष सुदी ११ तदनुसार १२ दिसम्बर, १६१३ ई० को हुआ था। मारवाड़ के महाराजा गजसिंह के वे ज्येष्ठ पुत्र थे। अत्यधिक बहादुर तथा निडर होने के साथ-साथ उनका स्वभाव स्वाभिमानी और स्वतन्त्रता प्रेमी था। पिता द्वारा छोटे भाई जसवन्तसिंह को मारवाड़ राज्य के

उत्तराधिकारी मनोनीत किए जाने पर सन् १६२८ ई० में वह अपने साथी राठौड़ों के साथ मुगल बादशाह शाहजहां के पास चले गए। शाहजहां ने उनको दो हज़ारी जात और १३०० सवारों का मनसब दिया। मुगल बादशाह के पक्ष में उन्होंने विभिन्न युद्धों में बहादुरी दिखाई जिसके फलस्वरूप उनको राव की पदवी और नागौर परगने की जागीर सन् १६३९ ई० में मिली। ईरानियों के विरुद्ध मुगल ग़हजादों, मुराद और दाराशिकोह के साथ-साथ उन्होंने काबुल और कांधार की लड़ाईयों (सन् १६४१-१६४२ ई०) में अत्यधिक बहादुरी दिखाई। इस समय उनका मनसब चार हज़ार जात और तीन हज़ार सिपाहियों का था। मुगल दरबार में अमरसिंह राठौड़ अत्यधिक प्रभावी थे।

२५ जुलाई सन् १६४४ ई० को दरबारी षडयन्त्र के कारण मुगल दरबार आगरा में उन्होंने सलाबत खां (मीर बख्शी) को मारा था और वीरगति को प्राप्त हुए। राव अमरसिंह के पास वाली छतरियां उनकी रानियां और परिवार के सदस्यों की बतलायी जाती हैं।

नागौर स्थित एक परकोटे के मध्य में पीले रंग के बलुआ पत्थर से निर्मित १६ खम्भों वाली बड़ी छतरी राव अमरसिंह राठौड़ की है जो १७ वीं शताब्दी के राजस्थानी स्थापत्य का एक सुन्दर नमूना है।

नागौर के अन्य दर्शनीय स्थलों में यहां का किला, महल, अकबरी मस्जिद, तारकीन दरगाह, बन्शीवाला मंदिर, कांच का मंदिर आदि हैं। नागौर के निकट गोठ-भांगलोद में दधिमति माता का प्राचीन मन्दिर है। पुरातात्विक एवं कलात्मक महत्व के भित्ति चित्र नागौर के किले में स्थित महलों में देखे जा सकते हैं। ये चित्र राजस्थानी चित्रकला की नागौर शैली में निर्मित हैं। इन चित्रों के महत्व को देखते हुए उनका संरक्षण राष्ट्रीय स्तर पर देश के प्रमुख पुरा रसायनवेत्ताओं द्वारा विगत वर्षों में किया गया। नागौर क्षेत्र के केविन्द स्थित शिव मन्दिर १०वीं शती और भवाल स्थित माताजी का मन्दिर ११ वीं शती के स्थापत्य कला के महत्त्वपूर्ण नमूने हैं। 

## तेरापन्थ शब्द—वैज्ञानिक अध्ययन

डॉ० जयचन्द्र शर्मा

जैन समाज में 'तेरापन्थ' की स्थापना लगभग २३५ वर्षों पूर्व केलवा गांव में हुई। इस पन्थ का नामकरण आचार्य भिक्षु ने अपनी सूझ-बूझ से किया कि हे अरिहंत देव। यह पन्थ आपका (तेरा) है। हम तो इस पंथ के अनुयायी हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से तेरापथ शब्द को आंकते हैं तो निम्न तथ्य हमारे सम्मुख आते हैं।

### अक्षरांक

इस शब्द में कुल चार अक्षर हैं जिनका अर्थ है, यह पंथ चारों दिशाओं में फैले। प्रथम और अन्तिम अक्षर त-वर्ग के 'त' और 'थ' हैं। भारतीय नृत्य व अवनद्य-वाद्य-यंत्रों में इनका सर्वाधिक महत्व है। 'त-वर्ग', को शुद्ध व सात्विक ध्वनि वाला वर्ग माना है। नृत्य और अवनद्य वाद्यों में प्रयुक्त किए जाने वाले बोल (शब्द) इस वर्ग के माध्यम से रचनाओं का गठन करते हैं। शास्त्रीय नृत्य में 'त' का अर्थ तांडव और 'थ' का अर्थ 'लास्य-नृत्य' है। शिव ने तांडव-नृत्य किया और भगवती पार्वती ने लास्य। तांडव नृत्य पापों का संहार करने वाला है और लास्य प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला माना गया है। अतः 'त' और 'थ' इस दृष्टि से पापों का संहार और प्राणीमात्र का कल्याण करने वाले सिद्ध होते हैं।


'त' अक्षर पर 'ए' की मात्रा है। जिसकी बनावट ऊपर से नीचे की ओर एक रेखा के रूप में है, जो आकाशीय-शक्ति को खींच कर 'त' अर्थात् तन को शक्तिशाली बनाती है। यह रेखा बारहखड़ी की सातवीं मात्रा है जिसमें सूर्य की सप्त-रश्मियों के गुण व शक्ति है।

तेरापन्थ शब्द में द्वितीय अक्षर 'रा' है। वर्णमाला में इसका स्थान सत्ताईसवां है, जो सत्ताईस गुणों से सुशोभित साधु-साधिवियों को तमन करने की प्रेरणा देने वाला है। संगीत के सप्त-स्वरों में भी इसका द्वितीय स्थान है। जिसकी कम्पन संख्या २७० है। इस संख्या से बिन्दु को पृथक् कर दिया जाय तो सत्ताईस रह जाते हैं जिसके गुण सत्ताईस हैं।

तृतीय अक्षर 'पं' है। पं से पंचम स्वर का बोध होता है। इसकी ध्वनि अति मधुर मानी गई है। 'पंचम स्वर में कोयल बोले' अर्थात् इसकी आवाज साहित्य और संगीत की दृष्टि से प्राणी मात्र को लुभाने वाली है। वर्णमाला में इसका इक्कीसवां स्थान है। तेरापथ समाज ने श्रावक के इक्कीस गुण माने हैं। इस अक्षर पर बिन्दु है,

जो बारहखड़ी की ग्यारहवीं मात्रा है। जैन समाज के आचार्यों ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख शास्त्रों में किया है।

तेरापंथ शब्द के चारों अक्षर शब्द-शक्ति और स्वर-शक्ति प्रधान हैं। इन चारों अक्षरों में तीन गुरु और एक लघु है। गुरु और लघु का क्रम निम्न प्रकार है—SSSI। इनकी कुल सात मात्राएं हैं। भारतीय संस्कृति में सात की संख्या को शुभ माना गया है। इस संख्या से अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है, जैसे सप्त रश्मियां, सप्त ऋषि, सप्त महारास, सप्त तांडव, सप्त स्वर, सप्त ताल (कर्नाटक संगीत) सूर्य के सप्त अश्व, सात वार, सात नदियां, सप्त द्वीप, इन्द्रधनुष के सात रंग आदि।

तेरह साधुओं और तेरह श्रावकों को एक साथ साधना करते देख कर तेरह पंथ के नामकरण दिए जाने की बात भी इस समाज में प्रचलित है पर १३ के अंक को  $१ + ३ = ४$  की संख्या तेरापंथ शब्द के चार अक्षरों की पुष्टि करती है। अतः यह शब्द वैज्ञानिक आधार पर अपने आपमें शुभ, मंगलकारी और प्रभावशाली है। 

## ‘महाप्रज्ञ—अतीत और वर्तमान’ में उपलब्ध सूक्तियां

४१ समणी सत्यप्रज्ञा

जीवन एक प्रश्न है और जीवन के नियम—महाप्रश्न। जीवन में होने वाली घटनाओं, सन्दर्भों, शब्दों, उतार-चढ़ावों को समझ पाना हरेक के वश की बात नहीं। जीवन की परिक्रमा करते समय अनेक समय अनेक सन्दर्भ आते हैं—व्यक्ति की प्रेरणा देने, अनेक लक्ष्य आते हैं, उसे प्रतीति देने, और अनेक क्षण आते हैं उसे शाश्वत का प्रबोध देने। सर्वोत्तम प्रेरणाओं को ग्रहण करने में प्रत्येक मनुष्य समान रूप से समर्थ नहीं होता। प्रवाह आता है चला जाता है। पारदर्शी प्रज्ञा के धनी कुछेक विरल व्यक्तित्व होते हैं जिनके हृदय से वाणी तक सरस सूक्तियों की परम्परा प्रवाहित रहती है। जिनका हर वाक्य एक सूक्त हो जाता है। सन्धि अर्थों में वह मानव जाति का महान् हितैषी है जो जीवन के महान् नियमों को सूत्रों में समेट देता है। जो स्मृति में सरलता से अंकित हो जाते हैं और मस्तिष्क में स्वभाव वश बराबर आते रहते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कोई पौद्गलिक शरीर निविष्ट व्यक्ति का नाम नहीं। बल्कि संयम, साधना और अविनय ऋत का माधवी रूपांतर का सुन्दर एवं शिष्ट अभिधान है—जिसमें काल, समयादि की सम्पूर्ण सीमाएं स्वयं विरक्त हो गई हैं जो सत्य, शिव और सुन्दर का श्री निकेतन बन चुका है। ‘महाप्रज्ञ—अतीत और वर्तमान’ नामक ग्रन्थ इसी सौन्दर्य—निकेतन की महायात्रा को रेखांकित करता है। इस ग्रन्थ में सत्य का व्यावहारिक अवबोध, अविनयता का मानवीय रूपांतर परिलक्षित होता है। प्रस्तुत शोध निबंध में इसी ग्रन्थ में बिखरे सूक्ति रत्नों की विवेचन किया जा रहा है।

सूक्ति शब्द—सु+उक्ति के मेल से बना है। सु एक निपात है जो कर्मधारय व बहुव्रीहि समास बनाने के लिए संज्ञा शब्दों से पूर्व तथा विशेषण और क्रिया-विशेषणों के पूर्व भी जोड़ा जाता है। अच्छा, भला, श्रेष्ठ, सुन्दर, मनोहर, खूब, सर्वथा, पूरी तरह, ठीक प्रकार से, आसानी से, तुरंत, अत्यधिक, अच्छी प्रकार आदि अनेक अर्थों में इसका प्रयोग होता है। ‘वच् वक्तायां’ वाचि धातु से कितन प्रत्यय करने पर तथा संप्रसारण आदि करने पर उक्ति शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है—भाषण, अभिव्यक्ति, बक्तव्य, वाक्य, अभिव्यक्त करने की शक्ति, शब्द की अभिव्यंजना शक्ति आदि।<sup>१</sup> इस प्रकार सूक्ति का अर्थ हुआ—सुन्दर वचन, प्रभावक अभिव्यक्ति, अच्छा भाषण, सुष्ठु वाक्य।

अच्छा वचन और अच्छे वचनों में निहित सचाईयां हर किसी के मन को लुभाने वाली होती हैं। अनुभूतियों की गहराई में पहुंचकर जब कोई भी चित्तक उसे

अभिव्यक्ति के स्वर तक लाता है तो सहज ही वे थोड़े से शब्दों में भी बहुत कुछ मर्म-स्पर्शी बन जाती हैं। इसीलिए उन्हें 'सूक्त' कहते हैं। प्रथमतः वे आनंद निकेतन से उद्भूत होती हैं और द्वितीयतः वे कमनीय चित्त सरोवर में कमलवत् खिलती हैं। अतः उनमें स्वकीय-परकीय भाव नहीं होता। 'महाप्रज्ञ-अतीत और वर्तमान'—एक जीवनी मूलक ग्रन्थ है। उसमें अनायास ही ऐसी मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और दर्शन से सम्बद्ध सूक्तियां समाहित हो गई हैं। उन्हें यहां संग्रह किया जा रहा है—

### [क] मनोविज्ञान सम्बद्ध

१. कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने में निमित्त बनता है।<sup>१</sup>
२. जीवन में सब-कुछ उत्तरित नहीं होता।<sup>२</sup>
३. यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।<sup>३</sup>
४. ताड़ना परिस्थिति विशेष में होने वाली विवशता है—स्नेह मनुष्य का निसर्ग है।<sup>४</sup>
५. आंखें बाह्य जगत् के साथ अत्यधिक सम्पर्क स्थापित करती हैं और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं।<sup>५</sup>
६. हर उपाय के लिए उपाय होता है।<sup>६</sup>
७. दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला, उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है।<sup>७</sup>
८. विश्वास विश्वास से बढ़ता है।<sup>८</sup>
९. पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है केवल सामायिक नहीं।
१०. मृत्यु की मीमांसा भी मृत्यु के परिपार्श्व में उग्र बन जाती है।<sup>१०</sup>
११. समय की दूरी को काटने की कोई कैंची है तो आशा।
१२. रुचि के निर्माण में परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ होता है।<sup>१२</sup>
१३. कार्य के पीछे एक प्रेरणा, एक विश्वास, एक लक्ष्य, लक्ष्यारूप योजना, सुनियोजित परिस्थिति और गहन दायित्व-बोध—जहां ये सारे घटक एक साथ होते हैं वहां आणविक शक्ति से भी अधिक ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है और वह स्थिति पैदा होती है जिसमें लक्ष्य और गति दो नहीं—एक बन जाते हैं।<sup>१३</sup>
१४. जीवनी लेखन में वही सफल हो सकता है जो जीवनी के नायक के जीवन को आत्मसात कर पाता है।<sup>१४</sup>
१५. मूलतः बीमारी एक ही है—राग।<sup>१५</sup>
१६. जो व्यक्ति ज्ञाता बना रहेगा वह एक दिन निश्चित ही केवल ज्ञान की भूमिका में पहुंच जाएगा।<sup>१६</sup>
१७. हम इन्द्रियों के साथ चेतना को न जोड़ें, मैं खा रहा हूं—फिर भी अरस बना हुआ है।<sup>१७</sup>

१८. मैं देख रहा हूँ, फिर भी अरूप बना हुआ हूँ—इसका नाम है—ज्ञाता-द्रष्टा-भाव ।<sup>११</sup>
१९. किसी का न होना ही धर्म का होना है ।<sup>१२</sup>
२०. आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य का अन्वेषी होता है ।<sup>१३</sup>
२१. विसर्जन तो अपनी चीज का ही किया जाता है ।<sup>१४</sup>
२२. गुरु हो और भिन्न हो तो मानना चाहिए कि गुरु नहीं है । गुरु अभिन्न ही होगा, आत्मा से भिन्न नहीं होगा ।<sup>१५</sup>
२३. कृपा व्यक्ति के निर्माण की निश्चित गारन्टी नहीं है किंतु पुरुषार्थ व्यक्ति निर्माण में निश्चित ही मुख्य कारण बनता है ।<sup>१६</sup>
२४. पुरुषार्थ भाग्य का नियामक है, भाग्य पुरुषार्थ का नियामक नहीं है—इस सचाई को समझकर चलने वाला अपना भाग्य विधाता बन जाता है ।<sup>१७</sup>
२५. समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा होता है ।<sup>१८</sup>
२६. गाय दूध देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है ।<sup>१९</sup>

### [ख] समाज-विज्ञान से संबद्ध

१. अपरिचित से अपरिचित होने में प्रारंभिक कठिनाई होती ही है ।<sup>१</sup>
२. प्रीति के बिना भय नहीं होता ।<sup>२</sup>
३. जो केवल डरता है वह ढीठ बन जाता है डर के पीछे भी एक बंधन-सूत्र होता है और वह है—प्रीति ।<sup>३</sup>
४. सहयोग वह होता है जो सब कुछ मनचाहा भी न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके ।<sup>४</sup>
५. ग्राम में रहने वालों में बुद्धि का बीज नहीं होता—ऐसा नहीं है । उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नहीं मिलती—यह एक सचाई है ।<sup>५</sup>
६. अनुशासन की पहली शर्त है—तादात्म्य ।<sup>६</sup>
७. ताड़ना में सिकुड़न पैदा होती है और स्नेह में विकास ।<sup>७</sup>
८. कोरा आक्रोश या कोरा उलाहना जहाँ प्रतिक्रिया पैदा करता है वहाँ युक्ति संगत बात अन्तःकरण को छू लेती है ।
९. विवेक और नियंत्रण की शक्ति विकसित होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं शासित हो जाता है ।<sup>८</sup>
१०. बहुत छोटी-छोटी बातों से जीवन का निर्माण कैसे होता है—इसे केवल बड़ी बातों में विश्वास करने वाले नहीं समझ पाते हैं ।<sup>९</sup>
११. कोई गांठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए ।<sup>१०</sup>
१२. यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपचों को निरस्त करने में कठिनाई नहीं होती ।<sup>११</sup>
१३. जीवन निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं ।<sup>१२</sup>



१४. कोरा ज्ञान होता है तो शून्य पूरा भरता नहीं—उसमें अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता है। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा से यह शून्य भर जाता है।<sup>११</sup>
१५. जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता और जो उपयोगी नहीं हो सकता वह चिरंजीवी नहीं हो सकता।
१६. अपनी समस्या केवल अपनी ही नहीं होती, वे दूसरों की भी होती हैं। दूसरों की समस्या केवल दूसरों की ही नहीं होती—वे अपनी भी होती है।<sup>१२</sup>
१७. अपने उत्कर्ष के लिए जो किया जाता है—वह व्यक्तित्व भी है, कर्तृत्व भी है।<sup>१३</sup>
१८. आगम का शुद्ध स्वच्छ जल, जिसको पीने से बढ़ता है ज्ञान-अंकुर, सिंचित होती है आस्था की बेल, फलने-फूलने से लगता है चरित्र का वृक्ष।<sup>१४</sup>
१९. जो विचार वर्तमान में आलोक दे सकते हैं, उलझनों को सुलझा सकते हैं, उनकी उपयोगिता है।
२०. जो व्यक्ति निरन्तर व्यस्त है—वह नासमझी का जीवन जी रहा है, खाली होना—जीने की एक कला है।<sup>१५</sup>
२१. जो आदमी अपने आपको व्यस्त रखता है दिमाग को कभी खाली नहीं करता, वह शायद मौत को ज्यादा प्यारा है, मौत उसे जल्दी अपने घर बुलाना चाहती है।<sup>१६</sup>
२२. स्वदर्शन की साधना का अर्थ है—अपने भाग्य की डोर को अपने हाथ में लेना, दुःख और समस्या की मूल जड़ पर प्रहार करना।<sup>१७</sup>
२३. कल्पना और सच के बीच जो फासला है, अतीत और वर्तमान की जो दूरी है उसे पार करने में व्यक्ति का पुरुषार्थ मुख्य भूमिका निभाता है।<sup>१८</sup>
२४. पत्र व्यक्ति के अंतरंग व्यक्तित्व का आईना होता है।<sup>१९</sup>
२५. पत्र में जो सचाईयाँ और संवेदनाएं अभिव्यक्त होती हैं वे साहित्य में नहीं हो सकतीं।<sup>२०</sup>
२६. जो अतीत को छोड़ देता है, वह सत्य को अवश्य उपलब्ध हो जाता है।<sup>२१</sup>
२७. कोरा ज्ञान व्यक्ति को भटकाता है तो कोरी साधना व्यक्ति को भटकाती है।<sup>२२</sup>
२८. जब किसी के साथ सम्बन्ध नहीं होता है तो सहज ही सबके साथ हो जाता है।<sup>२३</sup>
२९. धर्म संघ में शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है—अध्यात्म चेतना का जागरण।<sup>२४</sup>
३०. दार्शनिक शास्ता अपनी जनता को जीवन दर्शन की गहराई से परिचित करा

- सकता है और उसे तदनुरूप व्यवहार भी दे सकता है ।<sup>११</sup>
३१. कृपा की आकांक्षा और कृपा का अहं-व्यक्तित्व विकास की ही बड़ी बाधाएं हैं ।<sup>१२</sup>
३२. भाग्य की आकांक्षा और भाग्य का अहं—एक ऐसा मिट्टी का महल है जिसे मिटाने के लिए तूफान और वर्षा कभी हो सकती है ।<sup>१३</sup>
३३. अनुशासन एक कला है उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए । सर्वत्र कहा ही जाए तो घागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है । इसीलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है ।<sup>१४</sup>
३४. लक्ष्य तक कोई भी पहुंच सकता है, पर पहुंचता वही है, जो उसकी खोज में लग जाता है ।<sup>१५</sup>

### [ ग ] दार्शनिक सूक्तियां

१. जो चिंतन अचिंतन से निकलता है, वह कभी अधूरा नहीं रहता ।<sup>१६</sup>
२. कोई बच्चा आगे क्या होगा—यह सब गर्भ में होता है, उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नहीं होता है और दूसरों को भी नहीं होता उसका पूर्वाभ्यास स्वयं को भी हो जाता है और दूसरों को भी हो जाता है ।<sup>१७</sup>
३. अज्ञान जब सक्रिय होता है तब ज्ञान की दिशा स्पष्ट नहीं होती, शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञान कि दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञान की सक्रियता कम हो जाती है ।<sup>१८</sup>
४. अज्ञान को छोड़कर केवल ज्ञान को समझने का प्रयत्न व उसी के आधार पर निष्कर्ष निकालना—सच होने पर भी अधूरा सच होता है पूरा सच नहीं होता ।
५. मनुष्य अज्ञात प्रदेश से आता है, अज्ञात प्रदेश में चला जाता है, मध्य का विराम ज्ञात होता है, उसमें कितने ही अज्ञात सम्बन्ध जुड़ जाते हैं ।<sup>१९</sup>
६. ज्ञान के निर्माण में अज्ञान का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योग है ।<sup>२०</sup>
७. अज्ञान जो है वह ज्ञान से अधिक क्षमताशील है ।<sup>२१</sup>
८. कर्तृत्व से जुड़ा हुआ व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ कर्तृत्व ही मूल्यवान् होता है ।<sup>२२</sup>
९. शक्ति की अभिव्यक्ति है कर्तृत्व और कर्तृत्व की निष्पत्ति है व्यक्तित्व ।<sup>२३</sup>
१०. अपने उत्कर्ष से अपना विकास—इसका अर्थ है—कर्तृत्व ।<sup>२४</sup>
११. वह कर्तृत्व जिसमें अपना उत्कर्ष नहीं है—समाज का उत्कर्ष नहीं कर सकता ।<sup>२५</sup>
१२. कर्तृत्व का आदि चरण है—संकल्प, मध्य चरण है साधना और अंतिम चरण है सिद्धि ।<sup>२६</sup>
१३. ज्ञान-दर्शन और चरित्र की सुदृढ़ता का आधार बनता है—आगम ।<sup>२७</sup>
१४. स्वार्थ और लोभ क्रूरता को जन्म देता है ।<sup>२८</sup>

१५. बीतराग दशा सम दशा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता ।<sup>५६</sup>
१६. अस्तित्व का भी अस्तित्व और अभाव का भी भाव पक्ष होता है ।<sup>५७</sup>
१७. जब शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई बढ़ती है पर आत्मानुभूति घटती है तब शास्त्र तेजस्वी और धर्म निस्तेज हो जाता है । जब आत्मानुभूति बढ़ती है और शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई घटती है तब धर्म तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है ।<sup>५८</sup>
१८. वह व्यक्ति धन्य है, बहुत सौभाग्यशाली है जिसकी चिंता करने वाले गुरु मिल जाए ।<sup>५९</sup>
१९. शक्ति होना एक बात है और शक्ति को जानने वाला देवता मिलना दूसरी बात है ।<sup>६०</sup>
२०. जिसमें विद्या का समावेश हो और साधना का समागम हो — उसे महाप्रज्ञ कहते हैं ।<sup>६१</sup>
२१. जो शाश्वत में विश्वास करता है, उसका विश्वास आधुनिकता में होगा ही पर केवल आधुनिकता में नहीं ।<sup>६२</sup>
२२. व्यक्ति के भाग्योदय की सूचना स्वप्न और संकेत भी देते हैं ।<sup>६३</sup>
- इसी प्रकार अन्य प्रकार की सूक्तियां भी इस ग्रन्थ रत्न में समाहित हैं; जिन्हें संग्रह किया जा सकता है । ये सूक्तियां अपनी अलग पहचान रखती हैं । सत्य का अनुसंधान करने में सहायक हैं । सौन्दर्य अभिव्यंजना और व्यवहार की समुचित व्याख्या करती हैं । 'महानता का स्रोत व्यक्ति के कर्तृत्व से फूटता है' और 'विश्वास, विश्वास से बढ़ता है' — जैसी सुक्तियां मानवता के लिए आदर्श बन सकती हैं ।

वस्तुतः सूक्ति प्रबोध, विवेक, लोकहित और सम्यकत्व उपदेश के लिए होती है—

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।

सम्यकत्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥

और 'महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान' में उपलब्ध सूक्तियां इसी कोटि की हैं जिनका अध्ययन निश्चय ही लोक हितावह हो सकता है ।



सन्दर्भ

- |                                       |                  |
|---------------------------------------|------------------|
| १. जॉनसन                              | ३७. वही, पृ. १८  |
| २-३. आष्टे—संस्कृत हिन्दी कोष         | ३८. वही, पृ. १९  |
| ४. महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान, पृ. ३ | ३९. वही, पृ. १९  |
| ५. वही, पृ. ४                         | ४०. वही, पृ. २०  |
| ६. वही, पृ. १५                        | ४१. वही, पृ. २३  |
| ७. वही, पृ. ११                        | ४२. वही, पृ. २५  |
| ८. वही, पृ. १४                        | ४३. वही, पृ. २८  |
| ९. वही, पृ. २०                        | ४४. वही, पृ. ३३  |
| १०. वही, पृ. २१                       | ४५. वही, पृ. ३९  |
| ११. वही, पृ. २४                       | ४६. वही, पृ. ५४  |
| १२. वही, पृ. ३३                       | ४७. वही, पृ. ८६  |
| १३. वही, पृ. ३४                       | ४८. वही, पृ. ८९  |
| १४. वही, पृ. ३५                       | ४९. वही, पृ. ८९  |
| १५. वही, पृ. ३६                       | ५०. वही, पृ. ९०  |
| १६. वही, पृ. ५२                       | ५१. वही, पृ. २०५ |
| १७. वही, पृ. ६६                       | ५२. वही, पृ. १०० |
| १८. वही, पृ. ८८                       | ५३. वही, पृ. १०० |
| १९. वही, पृ. ८९                       | ५४. वही, पृ. १२१ |
| २०. वही, पृ. ९०                       | ५५. वही, पृ. १२४ |
| २१. वही, पृ. ९३                       | ५६. वही, पृ. १५२ |
| २२. वही, पृ. १०२                      | ५७. वही, पृ. १७५ |
| २३. वही, पृ. १११                      | ५८. वही, पृ. १७७ |
| २४. वही, पृ. १४७                      | ५९. वही, पृ. १९७ |
| २५. वही, पृ. १९७                      | ६०. वही, पृ. १९७ |
| २६. वही, पृ. २०५                      | ६१. वही, पृ. १०  |
| २७. वही, पृ. १७                       | ६२. वही, पृ. ९७  |
| २८. वही, पृ. १७                       | ६३. वही, पृ. ४९  |
| २९. वही, पृ. ७                        | ६४. वही, पृ. ३   |
| ३०. वही, पृ. ७                        | ६५. वही, पृ. ६   |
| ३१. वही, पृ. ८                        | ६६. वही, पृ. ६   |
| ३२. वही, पृ. ८                        | ६७. वही, पृ. ३४  |
| ३३. वही, पृ. ११                       | ६८. वही, पृ. ३६  |
| ३४. वही, पृ. १८                       | ६९. वही, पृ. ३६  |
| ३५. वही, पृ. ११                       | ७०. वही, पृ. ३९  |
| ३६. वही, पृ. १६                       | ७१. वही, पृ. ३९  |

७२. वही, पृ. ३९  
७३. वही, पृ. ३९  
७४. वही, पृ. ४९  
७५. वही, पृ. ५४  
७६. वही, पृ. ८९  
७७. वही, पृ. ८९  
७८. वही, पृ. ९१

७९. वही, पृ. ९३  
८०. वही, पृ. १२३  
८१. वही, पृ. १२३  
८२. वही, पृ. १२४  
८३. वही, पृ. ३३  
८४. वही, पृ. १८६  
८५. वही, पृ. १७५

## तुलसी स्तोत्रम् : एक परिचय

❏ डा० हरिशंकर पाण्डेय

### स्तोत्र पद सिद्धि

अदादिगणाय 'स्तुज्-स्तुती' धातु से 'दाम्नीशसयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' (पा० ३.२.१८२) सूत्र से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर 'स्तोत्र' शब्द सिद्ध होता है। स्तूयतेऽनेनेति अर्थात् जिसके द्वारा स्तुति की जाय वह स्तोत्र है। अर्थवाद प्रशंसा, स्तुति, ईडा, नुति, विकल्पन, स्तव, श्लाघा, वर्णन आदि शब्द 'स्तोत्र' के पर्यायार्थक हैं। समर्थ के गुणों का कीर्तन स्तोत्र या स्तुति है। प्रभु, गुरु, भगवान्, सर्वज्ञ आदि के अकाट्य एवं अखंडित गुणों को हृदय में धारण कर उन्हीं की श्रद्धा-मिश्रित भाषा में पुनः अभिव्यंजना स्तुति है। 'तुलसी-स्तोत्र' में सर्व समर्थ गुरु के गुणों का संगायन ही अभिलक्ष्य है। भक्त मुनि मधुकर को अपने जीवनहार का भाविक एवं शाब्दिक चित्र अपने हृदय-पटल पर अवतारण ही अभिप्रेत है।

### स्तोत्र काव्य की परम्परा और तुलसी स्तोत्र

जब से मनुष्य जाति को हृदय मिला, जीवन का स्पन्दन हुआ, श्रद्धा कन्या हृत्प्रदेश को गुदगुदाने लगी, बस समझो कि तभी से 'स्तोत्र' काव्य की परम्परा प्रवाहित हुई। भारतभूमि पर वैदिक, जैन और बौद्ध के अतिरिक्त अनेक—चिन्तन धाराएं फल्गु-प्रवाह के रूप में प्रवाहित हैं। सबने अपने उपास्य के प्रति भक्ति के पुष्प चढ़ाए। जैन परम्परा में आगम काल से ही 'स्तोत्र' विरचन का प्रवाह अविच्छिन्न है।

आचार्य समन्तभद्र (ई० शताब्दी द्वितीय) कृत देवागम स्तोत्र, स्वयंभू स्तोत्र एवं जिन स्तुति शतक, पूज्यपाद (५ वी श०) कृत शांतिनाथ स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर (ई० ५५५) कृत कल्याण मन्दिर एवं शाश्वत जिन स्तुति, पात्रकेशरी (६-९ ई०) कृत जिनेन्द्र स्तुति, भट्ट अकलंक (ई० ६४०-६८०) कृत अकलंक स्तोत्र, विद्यानन्द कृत (ई० ७७५-८४०) कृत सुपाशर्व स्तोत्र, बादिराज (ई० १०००-१०४०) कृत एकीभाव स्तोत्र, वसुनन्दि (ई० १०२१-१०२५) कृत जिनशतक स्तोत्र, मानतुंग (ई० १०२१-१०२५) कृत भक्तामर स्तोत्र, हेमचन्द्र कृत (१०८८-११८३ ई०), वीतराग स्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र काव्य प्रतिष्ठित हैं। तुलसीस्तोत्र 'भक्तामरस्तोत्र' के उपजीव्यत्व पर आधारित है। तेरापन्थ धर्मसंघ के नवम आचार्य (सम्प्रति पूज्य गुरुदेव गणाधिपति श्री तुलसी) के शिष्य कला और गला में आसक्त मुनिश्री दुलीचन्दजी उर्फ दिनकरजी द्वारा विरचित यह स्तोत्र अपने गुरु तुलसी को ४८ श्लोकों में समर्पित है।

## भक्ति के तत्त्व

स्तोत्र या स्तुति भक्ति के बिना स्फूर्त हो ही नहीं सकती। जब प्रभु चरणों में अविचलं अनुराग, अविच्छिन्न श्रद्धा और दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है, तभी स्तुति-काव्य का प्रादुर्भाव होता है। भक्ति से स्तुति उत्पन्न होती है और स्तुति से भक्ति पूर्ण होती है। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। इसलिए भक्ति के तत्त्व स्तुति में अनायास ही स्फुट रूप में पाए जाते हैं।

शांडिल्य के अनुसार आत्मा के विशुद्ध स्वभाव में रमण करना भक्ति है, नारद के अनुसार उपास्य के साथ तन्मयत्व ही भक्ति है। स्तुति या स्तोत्र इसी तन्मयत्व काल के उपज होते हैं। तुलसी स्तोत्र में भक्ति के अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं :—

१. अपनी तुच्छता का ज्ञान—भक्ति या स्तुति के लिए सर्वप्रथम अपनी तुच्छता का ज्ञान होना आवश्यक है। जब भक्त अपनी ओर देखने लगता है, सांसारिक शक्ति जब पूर्णतया समाप्त हो जाती है तब कहीं प्रभु-विषयिणी भक्ति या स्तुति का जन्म होता है। तुलसी-स्तोत्र के निर्माता को इस व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान है। प्रारम्भिक श्लोक इसके प्रमाण हैं—

(क) तस्यैव तुच्छ-घिषणः । —१

(ख) जानामि किञ्चिदपि नाथ ! न शब्द शास्त्रं  
नैवं च काव्यकलने प्रवण्यमतिर्मे । —२

२. प्रभु चरण में विश्वास, अखण्ड श्रद्धा—अपने उपास्य, भवजल में एक मात्र संरक्षक के प्रति अखण्ड श्रद्धा, पूर्ण विश्वास स्तुति या भक्ति में काम्य हैं। तुलसी स्तोत्र के स्तोता को यह ज्ञान होते हुए भी 'मैं मूर्ख हूँ स्तुति नहीं कर सकता, मुझमें सामर्थ्य नहीं है' वह समर्थ के गुणकथन में प्रवृत्त होता है क्योंकि उसको विश्वास है कि हमारा गुरु पूर्ण समर्थ है, उसके चरण-ध्यान मात्र से मेरी बुद्धि समर्थ बन जायेगी।

त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम् ।

—भक्तामर स्तोत्र-६

जैसे लता पादप का आश्रय लेकर ऊर्ध्वगामी बन जाती है। उसी तरह भक्त भी प्रभु प्रसाद से रम्य-रचना में समर्थ हो जाता है। तुलसी-स्तोत्र की पंक्तियां प्रमाण हैं—

ऊर्ध्वा भवेत् सततमेव गतिर्लताया,

सम्प्राप्य-पादप समाश्रयमद्वितीयम् ।

मन्ये तथैव परितः सफली भवामि,

स्तोत्रस्य रम्य रचनासु तव प्रसादात् ॥७॥

जैसे धूलिकण पवन के सम्पर्क से श्रेष्ठ पुरुषों के मस्तक पर भी पहुँच जाते हैं उसी तरह से पूज्य गणभृत् (गणधारक) की कृपा से ही मैं (दिनकर) स्तोत्र गुम्फन में समर्थ हो जाऊँगा—

वायोः प्रयोगमनुसृत्य रजः कषायत्,

खेलन्ति विश्व-पुरुषस्य शिरोऽग्रभागे ।

चित्रं किमत्र यदि वा गणभृत् कृपातः,

स्तोत्रस्य गुम्फन विधौ कुशलो भवामि ॥८॥

जैसे पाषाण मूर्तिकार की कला से मूर्ति बन जाता है उसी प्रकार समर्थ प्रभु की कृपा से एक नाचीज भी फणकार बन जाता है—

पाषाणदारक-करागत-लोष्ट खण्डं

शीघ्रेण कान्तमनुगच्छति मूर्तिरूपम् ।

त्वत्पाणिपल्लवमुपेत्य तथाहमद्य

किं ? नो भवामि वर-काव्यकरः प्रकामम् ॥९॥

३. समर्पण—सम्पूर्ण समर्पण की शाब्दिक अभिव्यक्ति स्तुति है, आत्मिक-व्याख्यान भक्ति है। जितने भी स्तोत्र मिलते हैं सब समर्पण की संहिता में सन्निहित पाये जाते हैं। भक्त अपना पाप-पुण्य सब कुछ प्रभु के सामने उद्घाटित कर स्वच्छन्द हो जाता है, मुक्त हो जाता है, भयरहित हो जाता है जैसे बालक अपने माता के सामने। भक्त कवि दिनकर की यह अवस्था सम्पूर्ण स्तोत्र में विद्यमान है।

४. शरणागति—स्तोत्र या भक्ति में शरणागति की भूमि आवश्यक है। स्तोत्र के माध्यम से भक्त अपने समर्थ की शाश्वत-शरण को ग्रहण कर आप्तकाम बन जाता है। भवरोग के अकाट्य जाल में फंसा गजेन्द्र प्राक्तन संस्कार बशात् अपने जीवनेश का चरणशरण ग्रहण करता है, गोपियां बार-बार प्रभु चरण में उपस्थित होती हैं क्योंकि मृत्यु संकट से कौन बचा सकता है? जो स्वयमेव मृत्युजेता है—उत्तरा ब्रह्मास्त्र से भीत होकर त्रैलोक्यपति के चरण में ही उपस्थित होती है :—

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।

नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥

—भा० पुराण १.८.९

गम्भीर संसार सागर में फंसा हुआ मानतुङ्ग अब किसके शरण जाए? कौन बचा सकता है? आचार्य मानतुङ्ग भी उसी के शरण प्रपन्न होते हैं जो भवजल में पतित होते हुए लोगों के लिए एकमात्र आलम्बन है—

भक्तामर-प्रणत मौलिमणि-प्रभाणा-

मुद्योतकं दलित-पाप तमो वितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-

वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ —भक्तामर-१

जरा, मरण एवं रोग रूप सैकड़ों पिशाचों से ग्रस्त जीव एवं संसार से भयभीत प्राणी उसी के शरणापन्न होते हैं। तुलसी स्तोत्र के संगायक के शब्द प्रमाण हैं—

रात्रिचरोद्भव-रवैर्निविडान्धकारैः,

दीपाश्रयं ह्यनुसरन्ति जनाः विभिताः ।

एवं जरा-मरण-रोग-शतैः पिशाचैः,

ग्रस्ता नयन्ति शरणं भगवन् त्वदीयं ॥२८॥



## स्तोत्र का आलम्बन

कोश ग्रन्थों में आलम्बन का अर्थ आधार, आश्रय, कारण आदि है। प्रश्न होता है कि तुलसी स्तोत्र का आलम्बन कौन है? इसका सरल समाधान है जिसके प्रति स्तोत्र समर्पित है, वही स्तोत्र का आलम्बन है। पुनः जिज्ञासा समुत्थित होती है कि कौन है वह जिसके प्रति स्तोत्र या स्तुतियाँ समर्पित की जाती हैं? वह सांसारिक बन्धनों में फंसा जीव नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं परतंत्र, असमर्थ, मरणधर्मा, अक्षम एवं सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त है। स्तुति उसकी की जाती है, जो सर्व व्यापक हो, सर्वसमर्थ हो, लोकातीत हो, सर्वज्ञ हो, अमर हो और विषयातीत हो।

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'तुलसी-स्तोत्र' के आलोडन से आलम्बन के स्वरूप पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

१. कल्याणदाननिरत— भक्तकवि दिनकर का स्तव्य सांसारिक जीवों का कल्याणकर्ता है। विश्वमंगलकारक ही उसका स्वरूप है। वह देव-समूह के द्वारा पूज्य है, तथा उसका लौकिक अभिधान श्री तुलसी है—

कल्याणदान-निपुणं भुवनैकपूज्यं,  
देवन्द्र देवनिकरैरनिशं निशेष्यम् ।  
नत्वा प्रमोदविभरस्तुलसीं सुभक्त्यां,  
तस्यैव तुच्छ-धिषणः स्तवन करिष्ये ॥१॥

२. गुणखनि—वह अनन्त दुर्लभगुणों की खनि है/उसके गुण उतुङ्ग गिरि शिखर के समान उन्नत, आम्रफल के समान रसमय एवं मधुर हैं—

यते गुणा गिरि-शिरः स्थितसद्रसाल-  
वृक्षस्य मिष्ट-परमेष्ट-फलौघ तुल्याः ॥३॥

३. कुम्भकार—स्तोत्र का आलम्बन कुम्भकार होता है। जैसे कुम्भकार मिटी के लौदे को अपनी कला-कुशलता से मंगल-कलश बना देता है, उसी प्रकार गुरु या समर्थ प्रभु मूढ़ को भी फणकार की यात्रा करा देता है। स्वयं कवि दिनकर के शब्द प्रमाण है—

पाषाण-दारक करागत-लोष्ट खण्डं,  
शीघ्रेण कांतमनुगच्छति मूर्तिरूपम् ।  
त्वत्पाणि-पल्लवमुपेत्य तथाऽहमद्य-  
किं नो भवामि वर-काव्यकरः प्रकामम् ॥१॥

४. बोधप्रदाता—आलम्बन स्वयमेव बुद्ध अर्थात् बोध प्राप्त होता है तथा अपने शरण्यागतों को भी बोधि का दान करता है। जैसे अनुकूल पवन एवं जल प्राप्त कर भूमि में अंकुर आ जाते हैं उस प्रकार प्रभु प्रसाद रूप जल को पाकर भक्त हृदय में बोधाङ्कुर स्फुरित हो जाता है—

प्राप्यानुकूलमनिलं सलिलं सलीलं,  
क्षेत्रे समुद्भवति सत्वरमङ्कुरालिः ।  
त्वत्सत्कृपोदकभरैः परिसिक्त एव,  
बोधाङ्कुरः स्फुरति मदद्हृदये तथाहि ॥१०॥

५. पापप्रक्षालक—स्तोत्र-काव्य का उपजीव्य भक्तों के पापों का शमन कर्ता होता है। वह सकलकलुषविध्वंसक होता है। तुलसी-स्तोत्र में अनेक स्थलों पर (श्लोक संख्या ११, १५, १८, २४) आलम्बन के इस स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। भक्त अपने प्रभु से याचना करता है कि हे प्रभो ! मेरे पापों का अपकर्षण करो—

पापं विषोपमपाकुक्षे क्षणेन ॥११॥

आपको पाकर पाप वैसे ही भाग जाते हैं जैसे हिरण सिंह के भय से—

पापं तथैव भवतः समुपैति भीतिम् ॥१५॥

६. सबका उपास्य—आलम्बन सबका प्रार्थ्य, गम्य एवं उपास्य होता है। पक्षी-समूह अपनी मधुर कूजन के ब्याज से उसी का स्तुति करता है, देव, मनुष्य सदा उसी के चरण में लौटते रहते हैं। वृक्ष दोलन के मिष (ब्याज) से उसी के सामने विनम्र होते हैं। संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो उसका अनुगमन नहीं करता—

पक्षिन्नजा रवमिषान्मधुरं स्तुवन्ति ,

देवा नरास्तव लुठन्ति सदैव पादे

वृक्षाश्च दोलनमिषादभवन् विनम्राः ।

को बानुगो भुवि तले महतां नहि स्यात् ॥१३॥

इस प्रकार तुलसी स्तोत्र में स्तोत्र-आलम्बन के स्वरूप पर काफी प्रकाश डाला गया है। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त वह वीतराग (१७) भवाग्नि ताप विनाशक (१८) संसार संतारक (२२), अन्तस्तिमिस्राहारक (१९), मृत्यु विनाशक, रोगहारक एवं एकमात्र प्रतिष्ठा का पात्र है।

### स्तोत्र का फल

‘प्रयोजनमनुदिश्यमन्दोऽपि न प्रवर्तते’ अर्थात् प्रयोजन को जाने बिना मन्दमति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता ? इस न्याय से यह जिज्ञासा समुत्थित होती है कि इस स्तोत्र से क्या लाभ है ? क्यों हम स्तोत्र की रचना या रचित स्तोत्र का पाठ करें ? प्रस्तुत जिज्ञासा तुलसी-स्तोत्र के सन्दर्भ में विचार्य है—

१. दोष विनाश—प्रभु के स्मरण गुणकीर्तन से सद्यः लाभ यह होता है कि दोषों का क्षय हो जाता है—

पादाश्रयाच्च भवतां सकलात्मदोषः ॥२४॥

२. कथा श्रवण से मुक्ति—भक्ति शास्त्रों में इसका निर्देश मिलता है कि प्रभु गुण श्रवण से मुक्ति मिलती है, दुःख शांत होते हैं, मनःस्थिर हो जाता है। भागवतकार कहते हैं—

तत्र कथामृत तप्तजीवनं, कविरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमंगलं श्रीमदाततं गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

तुलसी-स्तोत्र का भक्त कवि कहता है—रोग से आकुल बलहीन और कुरूप जीव भी हे प्रभो ! आपके नाम कीर्तन से कामदेव स्वरूप हो जाते हैं—

रोगाकुल गतबलाश्च कुरूपधुर्याः ।

त्वन्नामतो ननु भवन्ति मनोजतुल्याः ॥३१॥

त्वन्नामतः क्षयमियन्ति शरीरभाजाम् ॥३७॥

३. दुर्लब्ध अटवी से मुक्ति—स्तोता भयंकर से भयंकर स्थल को भी अपने प्रभु कीर्तन के बल पर सहजतया पार कर जाते हैं—

दुर्लब्धलब्धनवतीमटवी सुखेन ।

क्रामन्ति ते स्तुतिकरा मनुजा नितांतम् ॥३४॥

४. देहधारियों का आधार—संसार सागर में गिरते हुए जीवों के लिए स्तोत्र सबल आधार का काम करता है :—

आधारभूतमनिशं किल देह भाजां ।

स्तोत्रं तवातिरुचिरं परिमज्जतां स्यात् ॥३६॥

### तुलसी स्तोत्र में काव्य तत्त्व

विवेच्य स्तोत्र में श्रेष्ठ काव्य के सभी गुण विद्यमान है। चित्रात्मकता, रसनीयता, स्वाभाविकता, रमणीयता, चारुता, परात्परता आदि गुण इस स्तोत्र की वल्गुता को अत्यधिक सम्बर्धित कर रहे हैं। भक्ति एवं शांतरस का मधुरिम वातावरण विद्यमान है। वंदर्भी, रीति एवं माधुर्य तथा प्रसाद गुण के लास्य से सम्पूर्ण स्तोत्र काव्य अनुरजित है। अलंकारों का प्रयोग सहज होने से सौन्दर्य-संबर्धक बन पड़ा है। उदात्त-१, १३, विभावना-२, विशेषोक्ति-२, उपमा-३, ९, अर्थापत्ति-४, ८, १३, दृष्टांत-५, १५, उत्प्रेक्षा-६, यमक-१०, लटानुप्रास-१०, १२, संकर-१०, व्यतिरेक-११, १९, २१, २३, ३१, रूपक-२९, काव्यलिङ्ग-९, १८, २०, २३, २६, २७, २८, अर्थान्तर न्यास-४१, अतिशयोक्ति-३९, आदि अलंकारों का सुन्दर विनियोग हुआ है।

बसंततिलक छन्द की श्रुतिमधुरता, भावाभिव्यंजकता आदि गुण सम्पूर्ण स्तोत्र में विद्यमान हैं क्योंकि संपूर्ण स्तोत्र बसंततिलका छन्द में ही निबद्ध है। सहज देववाणी में निबद्ध होने के कारण इस स्तोत्र की महत्ता अक्षुण्ण है।

□

# सूचना

जैन विश्व भारती, लाडनूं में वैतनिक/अवैतनिक जो सेवा देना  
चाहें, कृपया अपनी योग्यता एवं अनुभव के विवरण  
के साथ आवेदन करें ।

धरमचन्द चौपड़ा  
'अध्यक्ष'  
जैन विश्व भारती,  
लाडनूं

**फार्म-४**  
**(नियम ८ देखिए)**

१. तुलसी प्रज्ञा

२. त्रैमासिक

३-४-५. डॉ० परमेश्वर सोलंकी  
भारतीय

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६

६. जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, तुलसी ग्राम,  
लाडनू-३४१३०६

७. मैं परमेश्वर सोलंकी एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम  
जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य  
हैं।

दिनांक २८ फरवरी, १९९५

परमेश्वर सोलंकी  
प्रकाशक

# TULSĪ PRAJÑĀ

Vol. XX : No. Four  
January-March, 1995

English Section



## VIOLENCE & NON-VIOLENCE

● *Parmeshwar Solanki*

Today violence seems to have grabbed the entire globe. People preaching violence have deep faith in what they hold. They firmly believe that non-violence can never lead them to success. It is miracle of the use of violence that it accomplishes the job more quickly than performing the task by non-violence. The violent person entertains no doubt in his mind about his ability to accomplish the job,

Undoubtedly the cult of violence has its hay day to-day. Look at a mother, she coaxes her child but he remains recalcitrant, then she beats him and the child submits. So she believes the logic that as long as a child is not beaten, he would remain incorrigible. 'Spare the rod and spoil the child'. In a similar way, man sees in every walk of his life that violence is the magic which immediately achieves what cannot be accomplished by persuasion of non-violence. So, he also believes in violence.

Furthermore, there is no need for propagation of violence for the violent man. He succeeds every where. And a systematic training in coordinated arrangement of working in violence is imparted to police and army cadets. They are taught how to strike, how to apprehend culprit, how to torture or how to disperse a procession. For all this, there is a systematic education in violence. Ample money is spent to add the instruments of violence. Billions and billions of rupees go into armaments. Huge factories are built to manufacture and experiments are made to try out this weaponry.

The resources of violence are unlimited—those of non-violence are limited. Actually no investment are made in non-violence. No endeavours are taken in hand to spread its message. No experiments, no research takeplace, nor any kind of materials are provided to it. All that exist are the institutions of non-violence, mostly private NGO's working here and there in negligible quantity.

However in the world of to-day, how can one dismiss the voice of non-violence to be inconsequential. It holds its importance in juxtaposition to the present world of violence, where all living things live constantly under the threat of annihilation. It is when we seek an alternative that we find solace in non-violence.

Science has invested innumerable power in man's hands and he



is standing at the brink of a catastrophe. The entire world is indulging in the production of armaments resulting in the impending extinction, annihilation and obliteration of humanity from the face of the earth. Mass-slaughter and massacres under the disguise of legalised violence have become the order of the day.

Due to modern living in the society man has become a social being, even then he could not give up his personal ambitions. Therefore, he began to exhibit dual personality—social and personal. The instincts like desire, greed, fear etc. were the part and parcel of his individual set up. Social consciousness was at work at the one end where as individual consciousness was at the other. Being pressed by the social responsibilities he was leading a disciplined life, but on account of the personal consciousness he twined to be an anti-social element. The more the objects developed, the more his greed was intensified and there arose the feeling of possessiveness. Having been engrossed with this vicious circle he took to theft, kidnapping etc.

The feeling of eminity, jealousy, hatred, condemnation, quarrel, allegation, backbiting, deceit etc.—all these are categorised as mental violence. Doing away with these evils is seldom thought of. Emotional violence is already there in the heart of hearts and violence in their day to day affairs confronts them in every sphere of their life.

The jain philosophy regards earth, water, fire, air and green vegetable as endowed with life and it is violence to take away life from living beings. Killing beings, waging war, defeating enemy and violence for sake of one's nourishment and self-preservation—all these are regarded as violence. It can not be substituted by non-violence. As a matter of fact imminence is also violence.

The whole world is full of living beings. Under these circumstances how can a living being lead life observing complete non-violence. Essential like eating, drinking etc. are linked with violence. These are the imperative needs of life and one therefore, can not think in terms of non-violence. It is his compulsion in order to remain alive but he should abstain from unnecessary violence.

Here the message of non-violence is all-pervading if it is combined of the purity of mind, speech and body—an influx of purity. The person practising non-violence leads a happy and peaceful life, where there is no room for tensions. The leap forward in this direction is the annihilation of cruelty and inculcation of a feeling of compassion. The evolution and development of language, script, mathematics, architecture etc. would be possible only if men learn

to live together, lead a peaceful life and know-how to exchange their views to their mutual benefit. The intellectual progress follows the propagation of non-violence. The door of intellectual development would remain closed until the principle of non-violence is not accepted universally.

Non-violence is the sound, logical and cogent diagnosis to the diseases afflicting the modern age. It would imply balance and the vice-versa. The force of non-violence and violence would go hand in hand in the society. Community life can not emerge without non-violence. Therefore we can not give up non-violence in any case.

In a human being there exist his own impressions of his past deeds (कर्म-संस्कार) which spring up due to environmental circumstances and therefore violence is also not possible to be uprooted totally. So social life implies the existence of a stream following between non-violence and violence. □



SOME GUIDE LINES FOR HAPPY MEANINGFUL AND  
SUCCESSFUL LIFE FOUND IN THE  
UTTARĀDYAYANA SŪTRA

(Gleaned and Translated)

● B. K. KHADABADI

- (१) चत्वारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जतुणो ।  
माणुसत्तं सुई सद्धा संजममि वीरियं ॥ (३।१)\*

In this world, for living beings four important units are difficult to get : human life, canonical knowledge, faith and strength in self-restraint.

- (२) जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई ।  
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्टियं ॥ (८।१७)

As one gets (more) profit, one's greed increases. Thus a work that can be done with two grams of gold, cannot be accomplished even by a crore of grams of gold.

- (३) जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।  
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥ (९।३४)

One who wins victory over a million soldiers in an unconquerable battle, should win victory over his own self. That would be his true victory.

- (४) पंचिदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च ।  
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं ॥ (९।३६)

Five senses, anger, pride, deceit, greed and mind—these are difficult to win. (Hence) If one wins his own self, he would win all these.

- (५) जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए ।  
तस्सावि संजमो सेओ अदितस्स वि किचण ॥ (९।४०)

Self-restraint is better than giving a gift of a million cows every month. Then one need not give anything as gift.

- (६) मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए ।  
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अण्णइ सोलसि ॥ (९।४४)

\*The first number refers to the chapter and the second to the gāhā.

The fool (ignorant) who eats food just as much as touching the end of a grass-blade after each month's fast, does not get even one-sixteenth part of merit got by the sage with right conduct.

(७) अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई ।

माया गईपडिग्घाओ लोभाहो दुहओ भयं ॥ (९।५४)

By anger man goes to lower birth, by pride he reaches wicked conditions, by deceit his good conditions are destroyed; and by greed he will have fear in this as well as the other World.

(८) धम्मं पि हु सद्दहंतया दुल्लहया काएण फासया ।

इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम ! मा पमायए ॥ (१०।२०)

Even when one will have faith in good religion, its followers are difficult to get. In this world most of the people are seized by passions. Therefore, O Gautama, you should not be careless even for a moment.

(९) अह पंचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई ।

यम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥ (११।३)

Pride, anger, carelessness, disease and indolence—these five come in the way of one's education.

(१०-११) अह अट्टहि ठाणेहि सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।

अहस्सिरे सया दंते न य मम्ममुदाहरे ॥ (११।४)

नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए ।

अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥ (११।५)

One who possesses the following eight qualities is called (truly) educated : Not extending ugly laughter, controlling senses and mind, not disclosing others weal points, having spotless character, possessing good behaviour, not indulging in sumptuous food, not being enraged and being truthful.

(१२) जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।

धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ ॥ (१४।२५)

The passing night does not return. The nights of the person living Righteous life are fruitful.

(१३) विवादं च उदीरेइ अहम्मे अत्तपण्णहा ।

वुग्गहे कलहे रत्ते पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥ (१७।१२)

One who digs up the cooled contrarversies, is bereft of good character, spoils his knowledge by bad logic, is interested in quarrels, is a bad monk (Śramaṇa),

(१४) समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जणे ।

पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करा ॥ (१९।२५)

Treating all living beings—friends or enemies, as equal and avoiding hurting or killing living beings throughout life is very difficult.

(१५) लाभालाभे सुहे दुःखे जीविए मरणे तथा ।

समो निदापसंसासु तथा माणावमाणओ ॥ (१९।९०)

One who takes profit and loss, happiness and misery, birth and death, praise or hatred as equal is a sage (muni).

(१६) सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ॥ (२३।७३)

Our body is a boat and our soul the boat-man and life is ocean. Those who search for liberation sail like this.

(१७) न वि मूडिण समणो न ओंकारेण बम्भणो ।

न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो ॥ (२५।२९)

By shaving head one cannot be śramaṇa (monk); by muttering the hymn om one cannot be Brahmin, by dwelling in forest one can not be muni (sage); and by wearing rags one cannot be tāpasa (penancer).

(१८) समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।

नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥ (२५।३०)

By accomplishing equality one becomes śramaṇa; by observing celibacy (or by possessing knowledge of Brahman) one becomes Brahmin; by accomplishing (real) knowledge one becomes muni; and by practising penance one can be tāpasa.

(१९) कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वइस्सो कम्मुणा होइ सुहो हवइ कम्मुणा ॥ (२५।३१)

By acts (not by birth) one becomes Brahmin; by acts one becomes Kṣatriya; by acts one becomes Vaisya and by acts one becomes Śūdra.

(२०) नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सहू ।

अरित्तेण निगिणहाइ तवेण परिसुज्झई ॥ (२८।३५)

One (the soul) knows by knowledge, believes by faith, restrains by (right) character and becomes pure by penance.

(२१) तस्सेस मग्गो गुहविद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।

सज्झायएमंतनिसेवणा य सुत्तत्थसंचित्तणया धिई व ॥ (३२।३)

Serving teachers and elders, keeping fools away, study of scriptures, living in a lonely place, meditating and disenssing on the meanings of sūtras and holding courage—these all form the path to liberation.

(२२) रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।

कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ (३२।७)

Attachment and hatred are seeds of karma; karma arises out of delusion and it is the root of birth and death. Birth and death are to be the root of misery.

(२३) दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किचणाइं ॥ (३२।८)

One who has no delusion has destroyed misery. One who has no desire (thirst) has destroyed delusion. One who has no greed has destroyed thirst; and one who has nothing has destroyed greed.

(२४) जे इंदियाणं विसया मणुण्णा न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।

न यामणुण्णेषु मणं वि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ (३२।९)

The Śramaṇas intending concentration of mind should not have attachment to favourable (liking) objects of senses and should nourish hatred against unfavourable (unliking) objects of senses.



## MAN AND ENVIRONMENT

● *Suresh Jain and Ms. Chitralkha Jain*

Man is a product of natural environment and organic evolution. He is a psychosomatic entity surrounded by extra somatic atmosphere. He is social, emotional and rational in nature. Biologically the human has the highest position in the animal kingdom with his well developed brain. He belongs in Primate with his other biological mates like gorilla, chimpanzee, gibbon and baboon. According to geological records, human came on this earth about two million years ago.

Human like other living organisms require basic natural resources to fulfil their various needs and survival. Unfortunately, he has exploited several resources even by violating natural, social, religious and even scientific laws out of their greed. This exploitation has led to several environmental problems.

We all know that man is a part of the nature, lives on its provision and eventually returns there. All things in sky, earth and seas have been provided as a resources to sustain our life. Nature, which is a source of life for all living beings including human, is continuously transformed while always maintaining order and harmony in accordance with the profound laws of universe. From time immemorial our forefathers have endeavoured to make a beautiful land and to create a distinct culture in harmony with nature. Scientists believe that "from ecologist's perspective, there is no dichotomy between man and nature". Thus the man has to follow the rules of universe. Nature reigns absolutely, supreme over man and man is only a "tiny helpless speck" in this mysterious universe. This has to be realised by us very sincerely.

This planet embraces innumerable life forms, living in air, water and soil from billions of years. The balance in environment is the product of natural evolution since the time of origin of life. The birth and death of organisms, their life systems, diseases, interrelationship with natural phenomena like earthquake, lightening and erosion establish a complex of nature. It provides an equilibrium between livings and non-livings maintained through natural selection.



### **Man and Science :**

The contribution of science and technology to the enrichment of human environment can not be ignored. Scientific advances have facilitated a gradual revolution in agriculture leading to high productivity and stability of major crops. The impact of industrial progress has been tremendous, boosting our economy. Achievements in space research, electronics, atomic energy, medicines have been responsible for nurturing healthy human beings. But on the other hand this scientific technological development has disturbed the ecological balance of the nature.

Man has exploited all living and non-living resources for his economic and even for recreational purposes without following natural laws. During the process of these achievements, the man has lost the grip over them and started breaking the law of the universe. The profit motive, may be individual or collective seem to be over-shadowed all things. This overriding concern with SELF is the basic cause of environmental crisis.

### **Environmental Hazards :**

The hazards due to uncontrolled technological developments and large increases in consumption of animal proteins in recent decades are also responsible for ever increasing environmental problems. It has been observed that about 70,000 Km. useful land goes out of production annually due to desertification, threatening the life of about 50 million people. Tropical forests are being destroyed at the rate of about 1.3 million hectares per annum in Africa alone. About 33% of total world's cereal output is used as animal food to get animal protein, which becomes about 1/10 of plant protein.

Today we are witnessing increase in flooded areas, deserts and soil erosion, genetic damages to human systems, threat to living species, hazards from excessive fertilisers, pesticides, drugs and smokes, deforestation, allergy from pollens and noxious weeds. Several new diseases have gripped the human. The pneumoconiosis and silicosis in the workers of coal and mica mines, lung cancer in the workers of uranium mines, leukaemia due to the radiation exposure, etc., The rate of death from cancer and other potentially curable diseases has increased more than 12% in the past decade. The 80% of cancer cases are due to environmental problems. The pollutions have become a threat to the living creatures including human. Noise pollution which is a result of industrial development leads to the loss of hearing, emotional distress, blood pressure, sleep-

ing sickness and tension including increase in heart beat. Air pollution produces acid rains and changes the pH values of the earth's resources.

Nuclear explosions are the greatest danger to living. The toxicity is 100 million times more than that of cyanides and other reagents. The chemical products like DDT, pyrethroids, nicotine, heavy metals, chlorinated hydrocarbons affects kidney, lungs, nervous system, endocrinal and gonadal systems of the human. The role of asbestos for lung cancer, benzene for leukaemia, ketone for sterility and vinyl chloride industries in cancer of liver are well known. The use of mercury and cadmium has already been banned in Sweden and Japan respectively.

The supersonic air transport destroys ozone layer of the atmosphere which filter solar radiations. It has been found that 8% depletion of ozone led to an increase, in 8,000 cancer cases in U.S.A. alone. The list of chemicals damaging nature is very big and beyond the capacity of this paper. In brief it can be said that there are about 35,000 chemicals potentially hazardous to human health already available in market.

### **Man's Present Position**

Today, the position and future of man has been shaken. Science treat man less than man and nature less than nature. We have developed a wrong concept of progress and relate it only with technological advancement.

The technological advancement have given higher place to the things rather than persons, which has increased our wants rather than enjoyment. Today environment is an unpleasant word. We hear it on all side, i.e. speeches, motion picture, still picture, and T.V. programmes showing how awful it is. A variety of factories, buildings, homes, automobiles, burning of garbage piles, are releasing waste products into air and thus conteminating our environment continuously.

### **Conservation of Environment**

The ecological imbalance in the nature has compelled the so called civilised man to think and work to stop further damages to our environment.

We have to introduce in the minds of children that we are surrounded by the beauty of nature and we should sustain and enhance it. One can take from the earth and atmosphere only so much as one put into them. It is imperative that all people should renew their appreciation on nature, take living care on it, eliminate sources of pollution and endeavour to restore and maitain the order and harmony therein.

It has been observed that in nature, harmony is the normal rule and conflict an exception. Members of the same species never kill one another. Man due to his greedy behaviour has become an exception to this natural law. Now the future of civilisation depends on the degree in which we can balance the forces of science and religion. The essence of education is religious which inculcates duty and reverence. Einstein (1929) stated that "Science without religion is lame, religion without science is blind" which has to be understood very clearly in the present day of science and technology. Gandhi (1924) also mentioned that "science without humanity" and "education without character" are the social sins. In an U.N. Conference held at Stocholm (1972) all heads of the States of the world met together and resolved that "all natural resources of world must be safe guarded for the benefit of present and future generations".

Now a days there is a great emphasis on the newly developed ethics generally called "environmental ethics". The ideas are not new, the environmental ethics were already existed in our oriental religions and cultures. It is a happy, sign that technologically developed western societies are also following these environmental ethics concerned with respect to all living things and appreciation for the beauty of nature. Situationally these ethics can be studied under three categories :

**Current ethics—**

- Dominancy
- Continuous progress

**Transitional ethics—**

- Based on ecosystem concept
- survival of the human species depends on the survival of other species.

**New ethics—**

- Respect for all living things
- Appreciation of the beauty of nature.

There is an urgent need to integrate environmental knowledge with examples and reasonable attitude into the educational curricula for our to-morrow's survival. It is because the issues, challenges and solutions of human relationship to its environment are international in character and global in its vision. The curricular approach will bring changes in the attitude of the children and will create a social awakening among masses towards our environment.

Various religions of the world also speak about the protection of animals and plants. There is a provision of worship for various natural resources like trees viz. *Peepal, Bargad, Aam, Imali, Mahua* etc. rivers, viz. *Ganga, Yamuna, Godawari, Kaveri* etc., animals viz. cow, buffalo and even the Sun, the Moon, ocean, clouds, etc., in religion. Jain religion support the idea of equality in all livings

including plants and their killing is considered a sin. Muslims also do not support the killing of animal for food. The holy book of christian mention's that 'our god is the same god, this earth is precious to him and to harm the earth is to heap contempt on its creator'. All things therefore, that you want other to do to you, you also must like wise do to them (Mathew 7 : 12) Man wanton almost frivolous destruction of the wild kingdom is gross abuse of the trust given by God (Genesis 1 : 28) Thus the idea of ecodevelopment-development without destruction is being emphasised.

Several national and international organisations are working hard in this line. Some of them can be cited as examples, viz. World wide Fund, International Union for Conservation of Nature and Natural Resources, Rare Animal Relief (RARE), Young People Trust for Endangered Species (YPTES), Friends of Earth, Convention on International Trade in Endangered Species (CITES) etc. Most of the countries have established Ministries for Environment, Natural Resources and Conservation, etc., so as to fastern the work in this direction.

### **Conclusion**

The health of global systems is vital to the future of our planet, and is of great concern to us as educated class of the society. The future needs of the society will be well served, if we change our short-term mentality and focus attention on long-term considerations including a sound attitude in the use of all our resources. The 'Rights' of future generations have to be preserved. They have a right to an uncontaminated and undamaged earth and to its enjoyment as the ground of human history, culture and social bonds.

We begin with the notion, that humanity must urgently change its perspective on natural environment, which envelops us, which compose us, which nourishes us. The human ingenuity which brought technological advances, now threatened our life systems. The corporate passion for profits, which has made our lives easier, now threatened to diminish Earth's treasury of natural beauty, which gives meaning and joy to life.

What can be done ? The answer lies in education, i.e., in providing information to public, so that within another generation, humanity will recognise its role as protector and participant in nature, and not conqueror. I believe change begins at the local level, the social values and policies transfer from person to person, community to community. The practicing of 3 R's formula is a good way to conserve energy i.e. Reduce, Reuse and Recycle the things.

Now the question arises about the type and quality of education,

Generally we call Environmental Education. There are several views regarding the definition, nature and scope of environmental education. Environmental education is just education from environment, about environment and for environment. It can be regarded as a field of awareness or an educational process which develop certain knowledge, skills, attitude, beliefs, and values to help the learner to cope with the environmental issues and problems. The aspects may be scientific, social, cultural, political spiritual, economic and even psychological. □

# ANCIENT INDIAN POLITY AS DEPICTED IN JAIN CANONICAL LITERATURE

● Nagendra Kr. Singh

The present paper is analytical study of the Contribution of Jain Canonical Literature in Origin and development of Ancient Indian Political philosophy. The most important Canonical works are the "Jaina Sūtras", which date are not definitely known. It is said that the existing Jain Canonical literature belong to different Chronological strata. Its earlier portion are possibly traceable to the period of the first disciples of Mahāvīra Gautama, while its later portions are probably not older than the middle of the fifth and beginning of the sixth century A.D., when the sacred literatures were corrected and written down (according to the Jaina tradition) at famous Council held at Valabhi.<sup>1</sup> Prof. H. Jacobi wrote in 1894 that the exact date of the Composition of the Jaina Sūtras cannot be satisfactory solved. He said that most part of the Jaina sūtras were old. The first edition of the Jaina Canonical works took place under the Venerable Devardhigaṇi in 453 A.D.<sup>2</sup>

The most important Canonical literature are the "*Uttarādhyayan Sūtra*" and the "*Ācāraṅga Sūtra*", which enlightens us on the concept of political philosophy. The former enlightens us on the concept of monarchy and the latter on the concept of anarchy or the form of kingless state. It refers also to a constitution like that of the *Andhaka Vrishnis*, it uses the terms *Viruddha rajya*.<sup>3</sup> and *Ikṣavāku* Janapad i.e. Koshala transforming itself into kāsī-koshala.<sup>4</sup> The Commentary of *Visheshāvashyaka Bhāṣya* describes the Concept of devine right theory. It mentions five categories of gods among whom the human gods occupy the second place and the king is also included. Another Jaina work "*Bhagwati Sūtra*" gives the concept of 'Republic state. It refers to sixteen *Mahajanapadas* with slight variations.

In the "*Uttarādhyāna Sūtra*", there is an interesting description of the ideals of *kṣatriyahood* and the concept of Monarchy. Concerning the former, the following conversation between *Nami*, who had descended from the world of gods, and was born as a man and the god Indra, disguised as a *Brahmana*<sup>5</sup>, are more important reference to the relation of politics to Ethics. When *Nami* renounced his throne

and became an ascetic, and Indra had come to him in disguise in the role of a true *kṣatriya*. Indra pleaded that the king should become a true *khattiya* (*kṣatriya*) by punishing thieves and robbers as well as Culprits and burglars and thus establishing the security of the town. *Nami* replies that men frequently inflict punishment wrongly on innocent persons by putting in prison and guilty ones being set at liberty. Again when Indra urges that the king should become a true *khattiya* by subduing all princes who did not acknowledge his sway. *Nami* replies, a man is Victorious if he conquers no body but himself. Again Indra urges that you would be true *khattiya* by erecting a wall gates and battlements, digging a moat, construct *śataghnis*. *Nami* answered that his faith was his fortress, self-control, the bolt of its gate, contentment, the top of the string, zeal, his hero, carefulness, its string, truth the strength with which he pierced the arrow, penance, the foe's mail and *karma*, with which he could be victor in the battle with *samsāra* or life. Indra then raised another question "By building places, excellent houses (*var-dhamānagraha*), and turret, you would be true *khattiya*. *Nami* answered that if he built houses on the roads would certainly get a trouble, he might take his lodgings wherever he wanted to go. At last, Indra failed to entice the enlightened *Nami* with pleasures, powers and privileges of the *khattiya*."<sup>6</sup>

The above extracts involve not only a moral censure of state craft, but also a strong condemnation of one of the fundamental principles of the *Brahmaṇa* canonists in defence of the same namely its basis in the laws of the *kṣatriya* order.

The following concept of *kṣatriya* (i.e. of a king) is common among the Jains, although it was not relished by the Jaina teachers : (I) that regulating to the duty of a *kṣatriya*, who was to fortify his capital; (II) that concerning his duty of punishment the wicked and establishing public safty; (III) That relating to his subjugation of all recalcitrant Chieftains, that is, his ambition as a conqueror; (IV) That relating to his patronage of dharma, in the shape of performing sacrifices and feeding *śramaṇas* and *Brahmaṇas*, and (V) That relating to increasing material wealth in the shape of gold, silver, and other Jewels etc. In all these details in the Jaina *Sāstra* are in perfect agreement with what has been stated in the *Manu-Smṛiti*.<sup>7</sup> Here we have unonimity of opinion between the ancient Hindu and Jainas on certain important aspect of kingship.

Even in regard to their concept of a Universal monarch, the Jain merely followed the earlier Hindu tradition. The ideal universal monarch was, of Course *Bharata* the son of *Ṛsabhadēva*. About

Bharata, it was said that after learning the pure creed, which is adorned by truth and righteousness, he gave up Bhāratavarṣa and all pleasure, and became ascetic. The pure Creed is defined thus, A wiseman believes in the existence of soul, he avoids the heresy of the non-existence of the soul, possessing true faith, one should practice the very difficult law according to the faith. Next to *Bharata* was *Sagara*, who likewise give up the Ocean-girt *Bhāratavarṣa*, and his unrivalled kingly power and reached perfection through compassion. The Maghavan, a universal monarch of great power, who also gave up the sovereignty of *Bhāratavarṣa* before taking to the life of pure faith.

Another *Cakravartin* king was Sanat Kumar, who abdicated in favour of his son before practising austerities. *Śanti*, the next monarch was followed by some saint. He was succeeded by king *Kundhu*, the bull of the *Aikṣvāku* race, who likewise became a member of the same order. Then came *Ara*, who also gave up the sovereignty of the sea-girt *Bharatavarṣa*, before becoming perfect. *Mahapadama* forsook his large kingdom, arms, war chariots and exquisite pleasures before becoming likewise perfect. He was followed by *Harisena*, *Jaya*, *Daśarnabhadra*, the king of *Dasarna*, *Karakandu* of *Kalinga*, *Dvimukha* of *Pañcāla* *Nami* of *Videha*, *Naggati* or *Nugnajit* of *Gandhāra*, *Velyana* of *Sauvira*, *Nandan* of *Kasi*, *Vijaya*, the son of *Brahmaraja* of *Dvārakāvātī* and *Mahabala* of *Hastinapura*.<sup>8</sup>

The above mentioned long list of universal monarchs as given in the Jaina canonical literature proves, firstly that the concept of universal monarch was same as that among the ancient Hindus and secondly that amongst the latter, there were many illustrious name in the Jaina history of rulers, who after enjoying sovereignty for long time, abandoned it for attaining salvation.

Jaina Canonical works describe the nature of ancient Indian republics also. Republics was a group with main Characteristic of possessing a mind e. g. the *gaṇa* of the *mullas*, and the *gaṇa* of *pura*. Its non social use is painted in music (*bhava-gana*). Non-constitutional *ganās* had according to the commentary, lack of mentality and purpose (in making up the groups) e.g. *Vasu-gaṇa* (the Vasu gods). The constitutional *gaṇa* is real *gaṇa* and in the eye of Jain authority, it has a mind, it is an organised conscious body of men like political assembly and the corporate *pura* (assembly)? The *Āchārāṅga Sūtra*, in its section dealing with the rules for daily life of the monks and nuns, prohibits them to enter certain type of states, lest he or she is taken to be a spy and put to torture. One of these states is a *Gana Rajyani* (*Ganarajyani*). It also prohibit them on their begging tour to



accept food in the house of Khattiyas (Skt. Kshatriyas), King's messengers, and relation of the king <sup>10</sup>

The *avadānśataka* mentions some merchants from the middle country of northern India had gone to Deccan "Gentlemen merchants, who was the king there (in northern India) they replied, "your Majesty some countries are under *Gaṇas* and other are under kings" Other Jain canonical work '*Antagadasāo*' confirm the existence of an executive council in a *saṅgha*, when it describes the ten principle *Dasarahas* among the *Āṇdhakas-Vriśnis*, who had a *saṅgha* of their own.<sup>12</sup> Beyond these details, it is not possible to say to what extent exactly the *gaṇa* constitution was republican in character.

Besides other Jaina Canonical works give a clear concept of anarchy in a kingless state or *arājatā* form of state. This form of state is exemplified by the state erected over the *Yuvarājas*. In *Āchārāṅga Sūtra*, the following is said : "A Jain monk or nun on a pilgrimage, whose road lies through a country, where there is no king, or which is ruled by a *gaṇa* form of government or by *Yuvarāja* a by Crown prince, or by two kings, a which is *Valrajya* state or which is a *Viruddharaḥa* should, if there be some other places, for walking about a friendly district not choose the former road for their voyage. The Kevalin says, "This is the reason, the ignorant populace might bully or beat etc, the mendicants". (Gamanugamam dujja mane arintara se arayani, va ganavuyani, va Jeeva rajani va dorajjani, va verajjani, va virudelha rajjani, va sati ladhe viharae samtharamanelim Janavahim no vihara vattayae pavpjejja gamanae toto samjayam eva gamanugamam dujjejj)<sup>13</sup>

Here, we have a unique feature, which for the want of better title, it may be called the negation of kingless. These names of different types of anarchial state ruled over by the *gaṇa* in concert Hindu literature. Perhaps in this detail the Jainas added to ancient Indian political philosophy in the sense that it at least gives some idea of anarchial State, there by completing the picture of the form of government in ancient India.

The above account of the different forms of government under which anarchy prevailed reference is a difficult matter since the date of the Jaina sutras are itself not decided. But since the first edition of the sūtras took place under the venerable Devarddhigani in 453 A. D., They may be assigned to the early Centuries A. D. as has been opined by H. Jacobi.<sup>14</sup> We have seen above that the republican communities finally disappeared from history only in the age of the Gupta dynasty (4th Century A. D). We may therefore presume that the above Jaina accounts referes to the first Century A. D. It may

be said that the *gaṇa* form of government, where anarchy prevailed, according to the "*Āchārāṅga Sūtra*, has to be assigned to the *Madhyadeśa*.

The Canonical literature take it as a constitutional experiment which had been tried more than once in this country. The canons mention, such form of government as a living institution. The group where this constitution occurs, is composed of all real and historical form of government. The referring to the passage in the *Ācārāṅga Sūtra* cited above, the author said that it mentioned in following form of government-the non-ruler states, the *gaṇa* ruled states, the *vairajya* state and the *viruddharajani* or state ruled by parties. Of these the *yuvārāja* states were evidently the type referred in *khāvelas* famous *Hathigumpha* inscription as on which the great monarch is said to have preceded over before his coronation (*Yuvarajan pasasitan*). Such a period of rule was considered as interregnum. Government was probably in the hands of some council of regency the sovereign being to young. Thus the Jainas refine the idea and belief of Hindus and establish their theories of the origin and development of the government in ancient India. □

#### References :

1. W. Winternitz, *A History of Indian Literature* Vol. II, pp. 431-35, J. C. Jain, *Life in Ancient India as Depicted in the Jaina Canon*, Bombay, 1947, p. 38
2. H. Jacobi, *Jain Sutra*, Pt. II, Introduction p. XL. (*Secred Book of the East*, XIX, pt I) M. C. Duff, *The Chronology of India*, p. 33
3. *Achārāṅga Sūtra*, II, 3.10
4. K. P. Jayswal, *Hindu Polity*, p. 229.
5. *The Uttaradhyana Sūtra*, IX, 6.66
6. H. Jacobi, *Op. pt. II*, 17-49, pp 37-40.
7. Cf. *Manusmṛti*, I. 89. p. 24. VII, 87-95. pp. 230-31 & 238, X. 77-79, 115, 419-23
8. H. Jacobi, *Op. Cit.* XVIII, 33-51, pp. 85-88.
9. Kp Jaysawal, *Op. cef.* pp. 26-27.
10. *Achārāṅga Sūtra* II, 13
11. Quoted in S. N. Mishra, *Ancient Indian Republic*, p. 37.
12. B.A. Soletora, *Ancent Indian Political Thought and Institution*, Bombay, 1963, p. 105
13. *Achārāṅga Sūtra*, II 3.1 40, in *Jain Sūtra*, p. 138.
14. K.P. Jaysawal, *Op. cit* p. 84; K.V. Rangaswami *Aiyagar Some Aspect of Ancient Indian Polity*; Madras, 1935, p. 77.



## JAYANANDA : THE KASHMIRIAN TIBETOLOGIST

● *Narendra Kumar Dash*

Before Buddhism, the Bon religion was prevalent in Tibet. This earliest religion of Tibet was founded by Shenrab Miwo Shang-shung in western Tibet.<sup>1</sup> According to the view of the said religion the founder of the Bon religion was a contemporary to Lord Buddha. Some others claim that he was an incarnation of Buddha.<sup>2</sup> Contrary to these is the assertion by still others that Shenrab Miwa was an incarnation of an ardent Buddhist Paṇḍit, who later opposed the Doctrine of Buddhism.<sup>3</sup>

Though the Buddhist teaching first spread to Tibet during the reign of the twenty-eighth king of the Tibetan empire of the early kings i.e. Hla-the-theri Gnyan-bstan (early 3rd century A.D.), still the actual propagation of Buddhism began in the seventh century A. D., when king Songtsen Gampo ascended the throne. He married Bhṛkūṭi Devī, the daughter of the Nepalese king Amshuvarman and also to Wen-ch'eng kungchu the daughter of the Chinese Emperor T'ai-tsung. The Tibetans called the princess of Nepal and China as *Belsa*' means to Nepalese consort' and *Gyasa*, means the Chinese consort' respectively-*Belsa* took with her the image of the Akṣobhya Buddha. That image is considered sacred by the Tibetans as it is said to have been blessed by Lord Buddha. On the otherhand, *Gyasa* arrived at *Lhasa* with the image of Shākyamuni, the Gautama Buddha. This is also considered to have been blessed by Lord Buddha. Both the queens requested the king to build temples for the images of Buddha they had brought to Tibet. Gyasa had her temple built and it was called Ramoche Tsukla-khang. The temple meant for the image brought by Belsa was called Rasa Trulnang Tsukla-khang<sup>4</sup> and later it became known as the Jokhang. Gradually the temples and Monasteries were built in Tibet, the Buddhist texts also translated into Tibetan as a part of spread of Buddhism and many Indian Pandits were invited to Tibet to propagate the Doctrine. So many Tibetans were visited India to learn Sanskrit and the Buddhist texts from Indian Pandits. The Indian pandits as Śāntarakṣita, Kamalaśīla, and Padmasambhava visited Tibet, translated and disseminated many sūtras, tantras and commentaries

During the reign of glang-dar-ma the *Doctrine* suffered a setback for almost a decade, but revived again, starting from the eastern and western parts of Tibet. This marked the beginning of the later dissemination of Buddhism in Tibet. Many scholars, such as Rinchen-sang-po, met with famous Indian scholars and adepts and through hearing, thinking and meditating maintained and furthered the conqueror's teaching. Also, many Indian scholars, such as Atiṣa, came to Tibet and translated and disseminated many sūtras, tantras and commentaries. At this point, many of Tibet's own people became skilled in the doctrine and began writing the many Tibetan Commentaries, and after a time not many famous Indian or Nepalese scholars came to Tibet.

Thus, the Buddhist teaching that spread to Tibet is just the stainless teaching of India. The Tibetan Lamas neither changed it nor mixed it with another religion. For example, in Tibetan commentaries, even after a brief exegesis of doctrine, a source is cited, be it the speech of Buddha himself or of another Indian scholar, and the point is settled only on this basis.<sup>5</sup> Again, the Sanskrit texts, which are difficult to understand, entirely translated into Tibetan in a easier way, in many centuries ago. It is known from the history of Tibet that the translation of buddhist scriptures on large scale commence after the second half of the eight century A.D., when the king *Khri-sron Ide-brtson* ruled over Tibet. Particularly after the founding of the first Tibetan monastery, *Bsam-yas* (Circa 775), and the acceptance of Buddhism as state religion the translation activities were furthered.

It would seem that the royal patronage of the translating activities has stimulated centralization and standardization of these processes. A central committee of translators, consisting of both Indian and Tibetan scholars, was installed, authorised to revise old and new translations in order to attain uniformity in terminology as well as translating techniques.<sup>6</sup> This committee is generally referred to as *Bcom-Idan-'das-kyi-rin-lugs-kyi-'dun-sa*.<sup>7</sup>

It is known from the history and records that the compositions of the scholars like Dignāga, Nāgārjuna, Ārya Maitreya, Dharmakiritti, Dharmottara and Vasubandhu etc. were included in Tibetan translations. However, the three famous works of Vasubandhu on *Vāda* i.e. the *Vāda-vidhi* (Chinese : *Ronki*), the *Vāda-mārga* (Chinese : *Ronshiki*) and the *Vāda-kausāla* (Chinese : *Ronshin*) are not popular in Tibet.

Gradually, when Buddhism in India proper had become extinct, an indigenous independent production of works on Logic by Tibetan

Lāmās developed and continued the Indian tradition<sup>8</sup> Stecherbatsky, in his famous work the Buddhist Logic, suggests that 'The original Tibetan literature on Logic begins in the XIIth Century A.D., just at the time when Buddhism becomes extinct in Northern India'.<sup>9</sup> He further divides the history of Logic in Tibet into two separate periods, the old one, upto the time of *Tson-kha-pa* (1357 to 1419),<sup>10</sup> and the new one, after *Tson-kha-pa*. It is known from the same source that Chaba-choi-kyi-senge (Phyva-pa-chos-kyi-senge) was the first author to compose an independent work on Logic in the land of snow. He had composed a commentary on the *Pramāṇaviniścayaḥ* of Dharmakīrti and a separate work of his own in enemonic verse with his own explanations.<sup>11</sup>

Jayānanda or Jayānanta, a Kashmirian Paṇḍit (Tib. : *kha-che'i pa-ndi-ta*) had composed a short gloss of twenty verses on Buddhist Logic in eleventh century A. D. The same text was revised and translated into Tibetan by the author himself alongwith the help of the Tibetan *Lo-tsa-ba mdo-sde-'bar* (Sans. : *Sūtrāntojjala*). This Tibetan name also may be rendered as : *Sūtrāntadīpa*. The author of this work is also credited with the translation of another five works on Buddhist Logic contained in *Bstan-'gyur*. They are the *Bodhicittavaraṇaḥ* (Tib. : *Byan-chub sems-kyi 'grel-pa*) of Nāgārjuna (Pek. 5470); the *Vīśvakarmacaryopadeśaḥ* (Tib. : *Las sna-tshogs-spyod-pa'i man-nag*) of Haribhadra (Pek. 5228); the *Vigrahavyāvartanikārikānāmaḥ* (Tib. : *Rtsod-pa bziog-pa'i gnen-po dgos—'dod thams-cad 'byan-ba*) of Nāgārjuna (Pek. 5230); the *Vaidalyaprakaraṇa nāmaḥ* (Tib. : *Shib-mornam-par 'thaq-pa shes-bya-ba'i rab-tu byed-pa*) of Nāgārjuna (Pek. 5271) and the *Mādhyamakāvataratīka nāmaḥ* (Tib. : *Dbu-ma-la 'jug-pa'i 'grel-bsad cas-bya-ba*) of the author himself (Prk. 5271).

Besides, a work on Tantra entitled the *Yddhajayārṇavanāmantranrājya svarodaya nāmaḥ* (Tib. : *Gyul-las rnam-par rgyal-po dbyans 'char-ba shes-bya-be*) was also translated into Tibetan by Jayānanda with the Tibetan scholar *Rmons.pa'i gnen-po dgos—'dod 'byun-ba* (Pek. 5813)

The two works composed by Jayānanda Viz., the *Tarkamudgārakārikā* (Pek. 5270) and the *Madhyamakāvataratīkā* (Pek. 5271) are based on the Madhyamika branch of Buddhist philosophy. In this connection the remarks of Satishcandra Vidyabhusana is noteworthy. He opines that 'the *Madhyamikakārikā* of Nāgārjuna, the *Mulamadhya-mavrtti* of Buddha Palita, the *Hastabala* by Arya Deva, the *Madhya-Mahṛdayakārikā* by Bhavya, the *Madhyamapratityasamutpada* by Kṛṣṇa, the *Madhyamikavrttiḥ* of Candrakīrti, and the *Mādhyamakāvataratīkā*

by Jayānanda (Jayānanta)—are the principal works of the Mādhyamika School.<sup>12</sup> This observation of Vidyabhuṣana simply suggests that Jayānanda was one of the chief Buddhist Logicians of the said School. In this regard Dr. Roerich also rightly opines that *rMa-bya Byan-brtsun* had learned the Madhyamika system from *Khu lo-tsa-ba mDo-sde-'bar* and *Kha-che* Jayānanda.<sup>13</sup> It is needless to say again that the two above mentioned teachers of the great scholar *rMa-bya Byan-Brtson* had composed a commentary on the *Tarkamudgarakarikā* of Jayānanda (rTog-ge-tho-ba, Tg dbU-ma, no. 3869).<sup>14</sup> It is also known from the same source that the co-translator mDo-sde-'bar was a contemporary of *Pa-tshab Ni-ma grags*, the famous Tibetan scholar of eleventh century A.D.<sup>15</sup> Thus, it may be strongly suggested that the *Tarkamudgarakārikā* was composed in 11th Century A.D.

The other five works which were translated by Jayānanda with the help of the Tibetan Lo-tsa-bas like *Khu mdo-sde—'bar* (Skt. *Sūtrantojvala*), *rMons-pa'i gnen-po dgos-'dod thamas-cad 'byun-ba* (Skt. *Ajñābandhvar-thasarbodhbhava*), *mdo-sde-dpal* (Skt. *Sutrānta Śrī*) and *Kun-dga' grags* (Skt. *Sarvānanda/Sāsvakrīti*) are also connected with the Madhyamika school and out of these three works are credited to Nāgārjuna, the founder of the Madhyamika philosophy. Thus, it may be referred that the great logician Jayānanda was one of the pioneers of the Madhyamik School of philosophy.

### Place of translation

In the colophon of the work *Tarkamudgarakārikā* it has been mentioned that the work has been written by the Kashmirian Paṇḍit Jayānanda and the work was revised and translated by the great (Tib *sus-chen*, Skt. *mahat*) Lo-tsa-ba Sūtrāntojjvala<sup>16</sup> alongwith the author himself. However, neither in the colophon nor in the main text of this treatise the place of translation has been mentioned. Therefore, it is not possible to infer the place of the translation of the work; but it may be suggested that since the author was from Kashmir, it might have been translated there. Again, it is known from the "Blue Annals", (P.I, 334) that Jayānanda visited gSan-phu and became known as *kha-che mkhan-po*. Thus, it might be suggested that we had composed and translated the works at gsan-phu.

### Subject matter

(a) *Tarkamudgarakārika* (Tg. dbu-ma, No. 3869) Pek. 5270

This short treatise of Jayānanda consists of twenty verses. At the beginning of the work the author salutes the *Ārya Mañjuśrīkumāra*

(Tib. : 'phags-pa 'jam-dpal-gshon-nur-gyur-ba (la-phyag-'tshal-lo), so that he will be able to complete the work without any obstacles. It is a general tradition among the Indian authors that at the beginning of their works they should worship their respective Gods or Goddess to complete the work smoothly. This trend was not only familiar among the Hindus, but also this was a practice among the Buddhists and the Jains. Therefore, Patanjali, the author of the great Mahabhasya, rightly opines that : *māṅgalika ācārya mahataḥ śāstraughasya maṅgalārtham sidhasabdāmāditāḥ prayuṅko|maṅgalādini hi śāstraṇi prathante virapurusaḥkāṇi ca bhavantyāyusmat-puruṣāṇi ca, adhyetāraśo siddhārtha yathā syuriti.*<sup>17</sup>

Through the short gloss the author argues that the wordly objects are realised by the means of the valid knowledge (*pramāṇa*) only. Then he gives three possible definitions of the *pramaṇa* (Tib. : 'jal-byed, viz., *sphuṭārthaprāpikā* (Tib. : *gan-bcad-don-thob-byed-pa*),<sup>18</sup> *ajñatajñāpakam* (Tib. : *ma-rtogs-don-gsai-'dod*) and *satyārtho bodhakam* (Tib. : *bden-pa 'i-don rtogs-smra*) and step by step he nicely refutes these. According to the author the aim of valid knowledge is to establish the existence of *prameya* (Tib. : *gshal-bya*) and this *prameya* is nothing, but identical with a *dravya* (Tib. : *rdsas*). Since the *dravyas* are *kṣaṇika* in nature, it is not possible to realise the *sphuṭārtan*. Thus, Jayānanda refutes all the definitions. Again, he rejects the two means of the valid knowledge i.e. the perception and the inference, which have been accepted by the great Buddhist Logician Dharmakīrti and his followers. Thus, this short work of the Kashmirian Paṇḍit is a direct attack to the *pramaṇavādina* 'those who believe on the *pramaṇās*.

This work of Jayānanda now needs some comparison with the *Vigrahavyāvartanikārikā* of the great scholar and the founder of the Madhyamaka philosophy Nāgārjuna. Nāgārjuna criticises the validity of the *pramāṇas* through his seventy verses. Nāgārjuna argues that if you establish objects through a *pramāṇa*, the *pramāṇa* itself must be established through another one and that itself by a fresh one, until you commit the fallacy of *regressus ad infinitum*. If on the other hand, you attempt to establish objects without a *pramāṇa*, your tenet falls to the ground.

A *pramāṇa* itself is not established. Had it been so, there would have been a complete cessation of gloom or ignorance. The view that a *pramāṇa* establishes itself as well as other objects, is untenable.<sup>19</sup> A fire which is cited as an illustration, can illumine other objects by removing darkness which besets them, but it can not illumine itself inasmuch as a fire never co-abides with darkness. Thus, Nāgārjuna criticises the validity of *pramāṇas* as discussed



through the *Nyāyasūtras* of Gautama.

Again, he argues that a *pramāṇa* cannot be so called, if it is totally independent of *prameya* 'objects'.<sup>20</sup> If, on the other hand, a *pramāṇa* is dependent on *prameya* 'object', how can it, having no self-existence, establish the latter. This work of Nāgārjuna, which was translated into Tibetan by the Indian sage Jñānagarbha with the Tibetan *Lo-tss-ba Ka-wa.dpal-brt-segs*, subsequently was recast by the Kashmirian Paṇḍit Jayānanda and the *Lo-tsa-ba Khu mdo-sde-dpal*.

Now, it may be suggested that the author of the Tarkamudgarka-kārikā, being influenced by the said work of Nāgārjuna, composed a separate and independent treatise of twenty verses. He had composed his independent work only after the recaste of the translation of the Vighrahavyāvartanikā-kārikā. But the main differences are :

(i) Nāgārjuna's work illustrates the dialectical method through clarifying the idea of voidness (*Śūnyatā*) and refuting the validity of the *pramāṇas*.

(ii) Nāgārjuna's sole attack in his work is on the *Nyāyasūtra* of Gautama.

Jayānanda, however, refutes only the validity of the *pramāṇas* and his main attack is for the famous Buddhist Logician Dharmakīrti and his followers. In the first verse Jayananda mentions the name of Dharmakīrti and (*Dharmakīrtteḥ anuyāyinah*), those who believe on the two kinds of *pramāṇas* i.e. *pratyakṣa* and *anumāna*.

(b) *Madhyamakavatāraṭṭikānāma* : (Tg. dbu-ma No. 3870) Pek. 5271.

There are 11 sections of the text. It is a voluminous work with 178 pages (61-1-1 to 24-3-6) and 1068 leaves. It is mainly a work on the Madhyamika system. The Madhyamika philosophy was so called because it avoided two extremes, i.e., advocated neither the theory of absolute reality, nor that of total unreality, or the world, but chose a middle path, inculcating that the world had only a conditional existence. The School is said to have been founded by Ārya Nāgārjuna. In fact the doctrines of the school are contained in older works such as the *Prajñāpāramitā*. The *Mādhyamikakārikā* by Nāgārjuna, *Mūlamādhyamavṛtti* by Buddhapālita, *Hastabala* by Āryadeva, *Mādhyamahopdayakārikā* by Bhavya, *Madhyamapratitya-samutpāda* by Kṛṣṇa, *madhyamikavṛtti* and *Mādhyamakavatāra-kārikānāma* by Candrakīrti and the present work under discussion of Jayānanda are the principal works of the Mādhyamika School. The Tibetan translations of the *Mūlamādhyamika-vṛtti* akūto bhaya of Nāgārjuna mention eight exponents of Mādhyamika philosophy,

viz., Ārya Nāgārjuna, Sthavira Buddha Pālita, Candrakīrti, Dev Sarma, Guṇa-śrī, Guṇa-mati, Sthiramati and Bhavya. However, the present work of Jayānanda is based on the two mentioned works of Candrakīrti, viz., Mādhyā mikakārikānāma (Tib. Dbu ma-la jug-pa'; tshing le'ur byas—pa, pek. 5261) and madhyamavakavatanama (Tib Dbu-ma-la jug-pa shes—bya ha, Pek. 5262).

### Notes

1. Shakabpa, T.W.D.; Tibet : A Political History Yale University Press, 1967, p. 13.
2. Grub-mtha : (Thu-kwan chas-kyi nyi-ma, grub-mtha' shel-gyi me-long (A comparative study of Buddhist Sects in Tibet).
3. Shakabpa, T. W-D; 1967, p. 13.
4. Rasa Trulnang Tsukla-khang literally means : "Goat-earth miraculous—appearance Temple."
5. cf; The Buddhism of Tibet (combined volume), MLBD, 1987, pp. 21-22.
6. Refer : Dash, N.K., A Survey on Sanskrit Grammar in Tibetan Language, Delhi, 1993, pp. 2-3.
7. Refer, Ibid, p. 3
8. Refer : Stcherbatsky, F, Th. "Introduction", Buddhist Logic V.-1, Reprint Delhi, 1984, p. 55
9. I bid.
10. Ibid.
11. Ibid.
12. Refer : Vidyabhusana, S.C., A History of indian Logic, Reprint Delhi, 1988, p. 250.
13. Refer Roerich, G. The Blue Annals Part 1, Reprint, Delhi, 1988, p 343.
14. Ibid.
15. Ibid.
16. Refer to the colophon of the work—along with the given Sanskrit restoration.
16. Refer to Patañjali's Mahābhāṣya (paspasāhnikā) of. The Bhāṣāparicheda contains a detailed study on the justification of the maṅgalācāranam at the beginning of the work.
18. Refer to verse 2 of the text.
19. Refer : *dyotayati svātmānam yathā hutāśastathā parātmānam/ svaparātmānāvevam prasādhayanti pramāṇānīti.*

This verse has been mentioned in the commentary of verse 33 in Nāgārjuna's Vīgrahavyāvṛtanīkārikā. The view put forward to this verse is in accordance with the Nyāyasūtra 11, 1.19 : *no pradīpaprakāśa (siddhi) vat tatsiddheh.* This at least seems to have

been the view of both Gautama and some of his followers. However, Vātsyāyana's view point and interpretation is different.

20. Refer : *anapekṣya hi prameyānarthān yadi te pramāṇasiddhiriti/*  
*na bhavanti kasyacid evam imāni tāni prāmāṇāni.*

This is the verse 41 of the Vīgrahavyāvartanikārikā.

## PERILS OF INDIAN EDUCATION SYSTEM

● *Anil Dutta Mishra*

Swami Vivekananda while explaining the universal significance of education, once said, "The education which does not help the common mass to equip themselves for the struggle of life, which does not bring out strength of character, spirit of philanthropy, and the courage of a lion—is it worth the name?" No society attains prosperity unless it is managed by the people of high moral character. There is an inevitable relationship between perfect education and character building. Infact both are the two wheels of the educational chariot.

Education and values are closely related and the prosperity and progress of a mankind rests on these pivots. If these are removed the society falls flat and people became distractive. Burke rightly remarked; 'education is the chief defence of the nation.' While Henry Peter remarked : education makes people easy to led, but difficult to drive, easy to govern, but impossible to enslave."

The French Sociologist, Emile Durkheim,<sup>1</sup> saw the majour function of society's norms and values. He maintained that, 'Society can survive only if there exists among its members a sufficient degree of homogeneity; education perpetuates and reniforces this homogeneity by fixing in the child from the beginning the essential similarlities which collective life demands.' Without these 'essential similarities', cooperation, and social solidarity, social life itself would be impossible. A vital task for all societies is the welding of a mass individual into a united whole, in other words, the creation of social solidarity.

Education system in India, is a product of British cultural imperialism. It has been equated to merely acquiring academic qualifications. Education has been confused with literacy. That is why it has lost its utility. There is a class dimension of Indian education pattern which cannot be undermined so easily. According to Dr. Prem Kripal<sup>2</sup> "Between the class education and masses education we have neglected the masses, especially the needs of rural areas. Between the education of children and the education of the adults we have favoured the children of the well-to-do families. Between those who can afford fulltime education and the working population, India

has exercised the choice in favour of the privileged ones'. So long as class distinction and elite and sophisticated culture persists the form and context of the present education system is not going to contain the forces of growing resentment. It is generally observed pains takingly that the higher the level of education the lower is the academic acquisition in the real sense of the term. On the basis of many imperial evidences, one is, but, compelled to say that, with the ascendancy of the level of the education, corrupting forces get themselves strengthened and academic excellence virtually get reduced to unproductive magnificence year after year.

In fact, education today has become something of status symbol, a privilege. It promises jobs for the few people. What people as a whole fail to realise is that true education is that which produces the perfect human being. Samuel Johnson said, books without the knowledge of life are useless. Academic education is only means to hasten true education. And true education is one that makes people of character and high calibre.

The present educational process has caused alienation from others. It fosters maximum gathering of information and competence. It is based on an antagonistic spirit or competition and fosters a random, causal, egaistic, happy-go-lucky approach to civic realities and responsibilities. Even Research and Training Programmes were neither developed adequately nor applied to qualitative improvements which failed to materialize the institutional infrastructure to remined atmost the same in form and functioning as was inherited from the neglect and inertia. Quality declined; only quality exploded.<sup>3</sup>

Education can achieve its ultimate purpose of making one an ideal human being only if it helps in fostering univeral and eternal values in the minds of all its people. And for this we must revolutionize our education its means and ends, its tryst with destiny, so that our rising generation rich in mental and creative intelligence, righteous in moral indignation against invironmental pollution, political, economic and other, and ready to die for human dignity and integrity.

What we need today is a large number of voluntary agencies wedded to gandhian concept of education to work, independently or with government agencies to change the educational pattern and to make it worthy of a culture that India is of course there is need for change in government policies and in many other things which will come if new avenues are openid up for the future.

Education is an integral part of the society and has to be co-

related with one's concept of a good social order. Similar character building is a part and parcel of the social system as it exists and as is visualised for the future.

Our democracy, our socialism, our secular values, our universal message of brotherhood, our republic's sovereignty itself depend upon the people of high moral values. So here one can realize the importance of value-based education. If we want man of high quality our planner must keep the ideals of Vivekananda in his mind.

Realising the importance of value based education Swami Vivekananda, who was a century ahead of his generation said :

“We must have hold on the spiritual and secular education of the nation. Do you understand that ? you must dream it, you must talk it, you must think it, and you must work it. Till then there is no salvation for the race. The education that you are getting now has some good points, but it has tremendous disadvantage which is so great that the good things are all weighed down. In the first place it is not a man-making education, it is merely and entirely a negative education. A negative education or any training that is based on negation, is worse than death—By the time he is sixteen he is a mass of negation, lifeless, and boneless. And the result is that fifty years of such education has not produced one original man in the three Presidencies. Every man of originality that has been produced has been educated elsewhere, and not in this country or they have gone to the old universities once more to change themselves of superstitions. Education is not the amount of information that is put into your brain and run riot there, undigested all your life. We must have life-building, man-making, character-making assimilation of ideas. If you have assimilated five ideas and made them your life and character you have more education than any man who has got by heart a whole library. “The ass carrying its load of sandal wood knows only the weight and not the value of the sandal wood. “If education is identical with information, the libraries are the greatest sages in the world, and encyclopaedias are the Rishis. The ideal, therefore, is that we must have the whole education of our country spiritual and it must be on national lines, through national methods as far as practical”.<sup>4</sup>

One may conclude by saying that if education in India is to serve any meaningful purpose, the entire education system at every level should be over-hauled and re-structured. I suggest that the educationalists and intellectuals (not so called intellectuals) should come forward and they should give up the power politics of manipulation

and evolve a sound, ethical and rational system of education which trains both the body and mind enriching the society and lessening unemployment which causes frustration.

#### References

1. Haralambos, Michael & Heald. R. M., *Sociology : Thems and Perspectives*, (Delhi, Oxford University Press, 1980, p. 173.
2. Kripal Prem, "How to plan education of the future" *Yojana* (Vol. 33 No. 14 & 15 August, 1989) p. 82.
3. Ibid, 2, p. 81.
4. Iyer Krishana V. R., "Primary education—some flaws in Planning", *Yojana* (Vol. 33 No 14 & 15 August, 1989) pp. 47-48.



## Origin of Untouchability II

### DR. AMBEDKAR ON THE ORIGIN OF UNTOUCHABILITY

● *Upendranath Roy*

The only elaborate explanation of the origin of untouchability available to us comes from Dr. B. R. Ambedkar, has been stated in the last chapter. This is found in his work 'The untouchables' published for the first time in October 1948. As we cannot help referring to that work now and then during the course of our inquiry, it would be convenient to present a summary of his views to our readers before we proceed further. Dr. Ambedkar's work is out of print and may not be accessible to them.

1. Dr. Ambedkar says both primitive and ancient societies had their notions of defilement as the notions of sacredness. People became defiled under certain circumstances. The defilement was caused either by certain events (like birth, initiation, puberty, marriage, copabitation and death) or by contact of certain persons or things. These societies had purificatory ceremonies for dispelling impurity. The defilement vanished after a certain period or after the purificatory ceremonies were performed. Such notions were not unknown to Ancient India. That is evident from the rules for the purification of physical, notional and ethical defilement given by Manu.

But the untouchability of the Hindu society is different from the notion of defilement found in the primitive and ancient societies in the following respects :—

- (a) Untouchability does not vanish after a certain period or after performance of certain purificatory ceremonies. It is permanent and hereditary.
- (b) Untouchability is not caused by specified reasons like birth, death etc. Apparently it is practised for no cause.
- (c) Defilement led to isolation of individuals affected or at the most those closely connected with them, while untouchability isolates an entire class numbering millions.
- (d) Defilement leads to isolation for a period. The untouchables on the other hand are segregated and compelled to live in separate quarters. That makes untouchability a unique phenomenon. Nothing like that was ever observed by any other society.



2. Manusmṛiti and other law-books say that the Chandālas and the Svapākas etc. shall reside, outside the village.<sup>1</sup> It can be interpreted in two ways. First, that they should stay where they have been residing, namely, outside the village. Second, that they should be required to go out of the village and live there. The second interpretation cannot be accepted as history knows no emperor having his sway over the whole of India and capable of transplanting numerous castes of the untouchables from within to outside the village all over the country. So the first interpretation has to be accepted and the only possibility that seems acceptable is that the forefathers of the untouchables lived outside the village from the beginning. The reason for such a phenomenon can be traced in the conflicts of the settled communities with nomadic tribes.

All tribes did not take to settled life at one and the same time. Some became settled and some remained nomadic. Even when all the tribes were nomadic they were always at war with others. Stealing cattle, stealing women and stealthily grazing of cattle in the pastures belonging to other tribes were the chief causes of their conflict. When some of the tribes took to settled life, the corn they possessed became an additional source of temptation to the nomadic tribes provoking the latter to organise raids on the settled communities. The settled communities could not leave their homes and go in pursuit of the raiders. Nor could they always convert their ploughs into swords. So the raiding nomads became a source of trouble to the settlers. In order to save themselves from raids, they felt the necessity of watch and ward.

During the wars between tribes some of them were defeated and broken into bits. These Broken Men Started roaming in all directions. Life became really difficult for them. They were always in the danger of being attacked and they did not know where to go for shelter. It was not conceivable to carry on economic activity independently of a tribe either. So the Broken Men were badly in need of food and shelter. The settled communities on the other hand had the problem of finding a body of men who would do the watch and ward against the raiders belonging to nomadic tribes. The two, therefore, struck a bargain where by the Broken Men agreed to do the work of watch and ward for the settled communities and the settled communities agreed to provide them with food and shelter. But according to the primitive notions in force at the time only the persons of the same tribe i.e. of the same blood could live together. The Broken Men were aliens and therefore could not be permitted to live in the midst of the settled tribe. Even from the strategic point of view it was

deemed proper that they should live on the border of the village so as to meet the raiders there.

As similar developments took place elsewhere, it would not be irrational to assume that it happened so in India also. There are two evidentiary facts to support the assumption. First, the names 'antya', 'antyajā' and 'antya-vāsin' are given to certain communities in the Hindu Shastras. These words derived from 'anta' are generally taken to mean "one who is born last" but Ambedkar argues they should mean "people living on the outskirts of the village". The second set of fact relates to the position of the Mahar community in Mahārāṣṭra. They are to be found in every village and have their quarters outside a wall that marks the end of the village. They do the duty of watch and ward on behalf of the village and collect food from the villagers, collect corn from each village at the harvest season and appropriate the dead animal belonging to the villagers. Dr. Ambedkar believes such was the condition of the people living outside the villages throughout India in ancient times.

3. Parallel to the Antyajās in India were the cases of the Fuidhirs of Ireland and Alltudes in Wales. Such separate settlements for Broken Men have disappeared everywhere else now. The reason is at a certain stage common territory was substituted for common blood as the bond of union by the society. There is no adequate explanation for the change but it did happen. The change was brought about by the rule of ennoblement. According to that rule if a non-tribesman lived next to the tribe or married within a tribe for a given number of generations he became their kindred. Such a rule existed in Ireland and Wales and India too had a rule like that which is referred to by Manu.<sup>2</sup> Manu says that a Shūdra can become a Brāhmaṇa if he marries for seven generations within the Brāhmaṇa community. This rule would have led to absorption of the Broken Men in the village community and their separate quarters would have disappeared. That did not happen in India because the emergence of untouchability prevented the amalgamation.

4. Stanley Rice in his book, 'Hindu Customs And Their Origins' sought the origin of untouchability in racial differences. His views are examined and rejected by Dr. Ambedkar. Arguments against Stanley Rice are, in brief, the following :—

- (a) It is far from established that the word 'Aryan' is a term indicative of race while it is beyond dispute that the Aryans were not a single homogeneous people
- (b) Nagas, Dravidians and Dasas are not different, they are but three names of the same people.

(c) The existence of more than two races the Aryans and Nagas, is not proved in Ancient India. So one cannot contend that first a race was conquered and made untouchable by the Dravidians and subsequently the Aryans conquered Dravidians and made them Shūdras.

(d) Even if the existence of more than two races in Ancient India is admitted, the results obtained by the application of anthropometry to the various strata of Hindu society disprove that the untouchables belong to a race different from the Aryans and the Dravidians.

5. While assigning an important place to racial differences in his theory, Stanley Rice believed that the unclean and filthy occupations were an important factor in the origin of untouchability. Dr. Ambedkar is not willing to admit it either. His argument is that the Aryans did not mind engaging themselves in filthy occupations. He quotes from Nārada Smṛiti to prove that impure work was done by slaves. Those slaves who did impure work including scavenging were not non-Aryans necessarily. When the Chāturvarṇya became well-established the institution of slavery was reorganized on the basis of the principles of graded inequality. Then the lower varṇas could become slaves of the higher varṇas and not vice versa. Even then the people of any varṇa who became slaves would be doing impure work and there would be no question of a section becoming untouchable for filthy occupations.

6. The words Antya, Antyaja, Antyavāsin, Bāhya etc. do occur in the Dharmasūtras and the Smṛitis but they are used for the people who lived at the outskirts of the villages. They were 'impure' at the time, but not 'untouchable'.

7. Untouchability originated from the contempt for Buddhists. People living at the outskirts of the villages had become Buddhists and did not care to return to Brāhmanism after it became triumphant as easily as others did. The opportunity to malign them was provided by the fact that even after turning to Buddhism, they did not give up the practice of eating the flesh of dead cow and using its skin. They continued because no question of violence was involved in it. Even when the Imperial Guptas forbade slaughter of cows and the rest of the Hindus gave up the practice of eating the fresh flesh of cow, the Broken Men did not discontinue eating the flesh of dead cow. The laws of the Guptas did not apply to them as they were not killing animals, but using dead ones. But such practice combined with the Brāhmaṇas' hatred for Buddhists made them untouchables.

8. Amedkar believes untouchability did not exist up to 200 A.D.

but it had come about by 600 A.D. undoubtedly. His argument is that untouchability was born in the age when cow-slaughter was banned and beef-eating became sinful. As cow-killing was made a capital offence by the Gupta kings sometime in the 4th century A.D., Ambedkar concludes that untouchability was born sometime about 400 A.D.

### **Strong points of the theory**

Almost all the questions generally raised about the origin of untouchability are answered by the thesis of Dr. Ambedkar. That is the first merit of the thesis,

It is the only thesis that answers why and since when the untouchables live outside the villages in a manner that makes sense. It is stronger and more sensible than that of Prof. Ghurye who contends that they lived undoubtedly inside the villages to the days of Pāṇini and it was sometime during the period between Pāṇini and Manu that Chāṇḍāl, Mṛṭah etc. were driven out and made untouchables<sup>3</sup> Ghurye does not care to explain the reason, nor does he name the emperor who could have done that throughout the country. Such fantastic assertions can be easily dismissed in favour of the view that the Chāṇḍālas etc. were defeated, Broken Men and as such they had to live outside the villages. That fits in well with what we know about them. That is the second merit of the theory.

Thirdly, the theory does not attach undue importance to the race factor. Contrary to the views of Ambedkar, most of the scholars believe that more than two races came to India, had conflicts with one another and finally lost their separate identities by amalgamation. There were two bio-types among the Aryans, namely, the Nordics and Alpines. The Dravidians too consisted of two types, namely the Mediterraneans and Armenoids. Besides the Mongol, Negro and Proto-Australoid types have also left their mark on the population of India. The literature of India refers to the Yakṣas, Rākṣasas, Pishāchas, Kinnaras, Gandharvas and Nāgas. It refers to the enemies of the Nāgas, the "Birds" and their chief Garuḍa too. I wonder if they can be explained by assuming two or three races only. Still it would be a blunder to label any caste or varṇa as descendants of a particular race in view of the frequent mixture of different races in all castes. Neither the Brāhmaṇas of the whole of India belong to one race nor do the untouchables. How absurd it would be to seek to explain the differences in varṇa and caste on the basis of racial differences becomes obvious from the fact that the Brāhmaṇas and Kāyasthas who constitute the upper class in the

Hindu Society of Bengal are ethnographically far from the higher castes of Punjab and U.P. while the untouchable Namashūdras are nearer to them. So it is a strong point in Ambedkar's theory that it discards race factor and proceeds to seek the roots of untouchability elsewhere.

### **Weaknesses of the theory**

The theory has, however, certain weaknesses too. Even a casual reader of Ambedkar's work is likely to be puzzled by the fact he deems the rules formulated for the Shūdras applicable to the case of Broken Men too (known as 'Antya' and 'Antyajā') at one place argues that untouchables are quite separate from the Shūdras in other place and arguing against the position that the word 'Anta' means end of creation and the word 'Antya' is equivalent to the word untouchable, he says : "The argument is absurd and does not accord with the Hindu theory of the order of creation. According to it, it is the Shūdra who is born last. The untouchable is outside the scheme of creation. The Shūdra is savarṇa. Against him the untouchable is Avarṇa i.e. outside the varṇa system. The Hindu theory of priority in creation does not and cannot apply to the untouchable."<sup>4</sup> On the other hand, referring to Manu's rule that a Shūdra could become a Brāhmaṇa if he married for seven generations within the Brāhmaṇa community, he declares : "that if this rule had continued to operate in India, the Broken Men of India would have been absorbed in the village community and their separate quarters would have ceased to exist."<sup>5</sup>

Ambedkar expected too much from the rule recorded by Manu but did not care to examine when and why it ceased to operate. That the emergence of untouchability made it inoperative is no answer at all. Ambedkar himself says that it was the Broken Men who became untouchables. So the emergence of untouchability could not affect the position of the Shūdras. Why did then that new phenomenon prevent the upgrading of the Shūdras? There is another question related to it. Ambedkar says the Shūdra was Savarṇa and lived inside the village while the Broken Men were aliens and lived outside the village. Then, how could the Shūdra's promotion to higher varṇas benefit the Broken Men? Even if all the Shūdras became Brāhmaṇas, how could that change the condition of the Antyajas living outside the village? How could that lead to disappearance of their separate quarters?

Later we shall discuss at length the contention that contempt for Buddhists led to untouchability. Even at first glance, however it

appears undue importance is being attached to religious differences. It does not seem very probable that differences regarding the way to salvation, regarding the existence of God and Soul etc. would lead to conflicts and leave deep impression on society. Without deep economic and social reasons conflicts do not become sharp and leave no lasting impressions. Is it credible that the disputes between the Shaivas and Vaiṣṇavas in the past were not rooted in the clash of material interests or that the Arabs invaded different countries simply for the pious zeal of breaking idols and had no desire to plunder? In modern times the riots of Malabar, Noakhali etc. were rooted in the conflict of the interests of landowners and peasantry though the real issues got distorted as the two sides belonged to two different religions. Therefore, it would not be proper to identify as the main factor the Hindu-Buddhist dispute or acceptance or non-acceptance of some food. That may be taken as a secondary factor leading to untouchability if we come across some evidence to support the contention. More than that we can not reasonably hold.

The third weakness of Ambedkar's theory is that it totally ignores the fact that even the untouchable castes are discriminating. Nobody reading his work will ever learn that it is not only the savarna Hindus who keep certain people at good distance but certain untouchable castes treat other untouchable castes in the same fashion. So we shall have to find out an explanation of untouchability that accounts for the mutual hatred among the untouchables too.

The fourth weakness of Ambedkar's theory is that it declares emphatically that occupation has nothing to do with untouchability. We are going to discuss it later. But we can note the questions here that the theory raises : If occupation has nothing to do with untouchability, why is it that the Brāhmaṇas, Kṣatriyas and Vaishyas are forbidden to adopt the occupations of even the Shūdras? Why is it that untouchables cannot take the occupations of even barbers, kahars or sweet-makers? Have other castes ever taken the occupations of the untouchables or ever expressed the desire to do that? If the answers to all these questions are not found to satisfy us, how can we say it has nothing to do with occupation? □

#### *References :*

1. Manu, V. 51-56
2. Manu, X. 64-67
3. G. S. Ghurye, Caste and Race in India, 5th edn., 1969, PP. 311-2,
4. The Untouchables, P. 32
5. Do, P. 40



## **TOLSTOY & GANDHI**

● *Tatiana Blagova*

The project "Tolstoy and Gandhi on non-violence with a special reference to Jainism" is part of my research and pedagogical endeavours sponsored by Russian state Educational Committee which awarded me a grant to accomplish a students textbook "Introduction to Russian philosophy".

At present marxist—Leninist—Stalinist—Brezhnevist ideology has been abolished and we are looking for new spiritual weltshang (outlook) in terms of national identity. We turn to the legacy of our great thinkers in attempt to reinterpret their ideas as relevant to modern time. Teachers and students alike feel a great demand of new textbooks on social sciences and humanities sincerely presenting Russian Intellectual history.

With this purpose in view re-valuation of Tolstoy's legacy is an urgent problem. Under soviet regime his teaching has been grossly distorted. Lenin harshly criticised the first apostole of non-resistance to evil by violence and since that time our ideology was based on class struggle, violent revolution and bloodshed. The theme "Tolstoy and Gandhi on non-violence" has been neglected in our historical literature. I was invited to Jain Vishva-Bharati Institute (Deemed University) to study both Gandhi's works and related literature.

From Gandhi's autobiography we know that Tolstoy's writings such as "My confession" (1879), "My Religion" (1884), "What shall we do then" (1884), "The Kingdom of Heaven is within you", "The death of Ivan Ilych" moved Gandhi profoundly. Gandhi admitted that he was in debt to Russian thinker and novelist.

1. My primary *purpose* was to identify specific sources of the Gandhian thought that owe their development to the Tolstoyan influence.
2. Both men entered the core of national consciousness of their respective countries, I also directed my efforts to investigate how they had changed our mentality.
3. To paint out significant similarities as well as differences in character traits of these great personalities was also part of my studies.



The following preliminary conclusions have been made :

(1) The question of ideological indebtedness is always tricky. Such a great individual as Gandhi could not be shaped by other personality though he admitted that Tolstoy "changed his inner being". Gandhi's message as well as the movement he directed was so original that the question of borrowing could not arise. But still there is an amount of *cross references that require accurate presentation* with this purpose in view I tried to compare their views on non-violence. Russian national character is rooted in orthodox christianity, but the idea of non-violence is alien<sup>1</sup> to it though compassion and mercy to the weak is our distinguished feature.

In Russian Intellectual (secular) history *Tolstoy was the first to raise his voice against war* to smash any attempts to justify war under certain circumstances. He was also the first to urge people not to resist evil by violence and to live by love.

Gandhi was brought up in Indian culture. The idea of non-violence is present in all Indian religions : Jainism, Buddhism, Hinduism, I am inclined to say Gandhi's background was molded by his Jaina neighbourhood but still in South Africa where he became social leader of the oppressed Indians, he might have been also inspired by Tolstoy's 'Kingdom of Heaven is within you'.<sup>2</sup> This book relieved his loneliness in prison and he recommended it to all people to read.

(2) Sympathy with "the injured and humiliated" has been always a characteristic feature of Russian literature and thought, Tolstoy's voice condemning landlordism was the strongest. In his novels "Anna Karenina" "War and peace" he gives way to harsh reality of disease, death, child's mortality.

Gandhi was placed in similar context but unlike Tolstoy who did not believe in massive action, Mahatma Gandhi was a leader and most successful organiser of mass-anti-imperialist struggle in India.

(3) Gandhi was aware of Tolstoy's experiments in education (new methods and contents, relevance to peasants life). The literature related to Gandhi's "Ashrams" as educational centers convinced me that reforms carried out by Indian leader echoed Tolstoy preaching on this subject.<sup>3</sup>

(4) The *integrity* of the *spirit* is a genuine concept of Russian philosophy which has always been concerned with man's destiny.<sup>4</sup> The integrity of spirit means that different faculties do not contradict each other. In this context Russian thinkers criticised Western civilization where individual's consciousness is fragmented, split,

and individual feels loneliness, despair alienation.

In Russian cultural History we appreciate those thinkers whose *preaching and daily life coincided*. After spiritual crisis. Tolstoy reevaluated his past life and accused himself of many sins (military service, attachment to material comfort, tasty food and drinks, sexual desire). Instant questioning and self discovery is characteristic of main heroes of his tails : "The Preazer Sonate, "The death of Ivan Ilych", The Devil".<sup>6</sup>

Tolstoy was the only one among Russian distinguished intellectuals to practice vegetarianism and to advocate it in his non-literary works.

Belonging to upper layer of Russian gentry Tolstoy still advocated breadwinning by labour and he himself pumped water for the whole house and chopped long logs.

Gandhi's ascetic life and hard labour in his Ashram is well known from his autobiography and memories of his friends. His long fasting with the purpose to reconcile Hindu and Muslims are also well known. The *integrity of spirit* of this great man causes great admiration<sup>6</sup>.

## PART-II

In the course of my research I felt bound to modify my project along the lines "non-violence roots in Gandhism and Jainism." I was honoured to set at the feet of Gurudeo Tulsi and Acharya Mahaprajna. Their writings as well as "Anuvrat movement" itself made a great impression on me. Being a short term scholar of the first Jaina University, I made up my mind to take the advantage of my stay in Jain Vishva Bharati Institute and to study Jaina metaphysics, epistemology and psychology, moreover I have found an intellectual basis of the Gandhian principle of Ahimsa in the Jaina theory. So half of the time I dedicated to Jaina principles of non-violence, non-possesiveness, non-absolutism as embodied in Gandhian thought and relevant to present critical global situation. The preliminary conclusions of research in this field are the following.

1. Gandhi's early life was fashioned by Jaina neighbourhood. Later Gandhi showed typical Jaina attitude of non-absolutism (anekantayada) and relativism (syadvada) in such statements : "courtesy towards opponente and eagerness to understand their view point is the ABC of non-violence".

2. Jaina ethical ideas influenced Gandhi's respect of vows. The Five Great Vows and smaller vows (anuvratas) of the Jains have remarkable similarity with the eleven vows of Gandhi.

3. Gandhi's terminology of Sarvodaya (wellfare of all) has its

original root in an ancient Jaina TEXT.

4. Gandhi's with his immense faith in tolerance and non-violence came to the conclusions that all religions are true but all have some error in them, and if there are different doctrines, there must be reasons for it.<sup>7</sup>

5. The essence of Jainism is the great compassion for all creatures or *Ahimsa*. Unlike Buddhists, Jains do not regard existence as evil by itself, it is neither impermanent and sorrowful like Buddhists nor permanent and blissful. Suffering is an evil and hence to impose upon others is evil.

The practice of *Ahimsa* calls forth the greatest courage. Gandhi fearlessly carried the war in to the enemy's camp and brought down the arrogance of the mightiest empire yet he showed unmistakable love and friendliness towards the Britishers.

6. Besides *Ahimsa*, Gandhi re-echoed the voice of *Lord Mahavira* for the equality and emancipation of womenfolk.<sup>8</sup>

7. Vegetarianism is the foundation of Jainism which preaches non-violence to all living creatures. Gandhi added vigour to the Jaina idea of vegetarianism. "I do feel that spiritual progress does demand at some stage that we should cease to kill our fellow creatures for the satisfaction of our bodily wants".<sup>9</sup>

8. 25 centuries ago Lord Mahavira was preaching *non-possession*. Gandhi put forward the doctrine of trusteeship to make the ideal of non-possession practical. He practiced truth with non-violence to demonstrate the virtue of Anekantavada even in socio-political life.

9. Non-violence is the most important principle of Jainism. Gandhi's greatest contribution to Jainism and as a matter of fact to entire Humanity is his thirst for peace. His letter to Chiang kai shek, his appeal to every Japanese, his formulation of the concept of Civil Defence and his conception of unilateral disarmament in the State of Swaraj are ample prove to make him an apostle of world peace.

10. One of most influential movements which propagates the ideas of non-violence is *Anuvrat movement* launched in 1949 by Shri Acharya Tulsi, "If our conduct is permeated with the essence of non-violence and non acquisitiveness, it will work like a panacea for the present age inflicted with the curse of violence and acquisitiveness."<sup>10</sup>

Problems of modern times, such as polluted water and air, health deterioration ethnic and religious conflicts, Break of families and abuse of children's rights, suicide and mental diseases are caused through violation of these principles.

The members of "Anuvrat movement" spare no efforts to make

People understand that their problems are rooted in consumerism. It is not out of place to recollect here that Tolstoy was the first who yet in the XIXth century foresaw the maladies of industrial and post industries for India. But they were mis-understood by many of their contemporaries.

#### Acknowledgements

I would like to express my acknowledgement to Jain Vishva Bharati Institute for hospitality, accomodation and help in my research. My deepest thanks to Vice-chancellor Bhandari, public relation officer Miss Veena Jain, professors and lecturers : Dr. B. R. Dugar, Dr. A. K. Jain, Mr. Anil Dutta Mishra, Dr. J. P. N. Mishra and Dr. J. R. Bhattacharyya. I am extremely grateful to Mr. Shankar Lal Mehta for providing me with books on preksha-meditation and Dr. P. Solanki for consulting me on the bookstock of the library.

I was fortunate to received guidance from monk Dulahrajji and seat at his feet.

□

#### REFERENCES

- \* I am planning to make use of the results achieved during my scholars, research at Jain Vishva Bharati Institute in the following way :
  - i. To write a chapter "Tolstoy aud Gandhi on non-violence" for a student's textbook "Introduction to Russian philosophy".
  - ii. to publish an article in "Science and Religion" magazine "Jainism—Religion of the 21 century".
  - iii. to incorporate the conclusions in series of lectures "Typology of cultures" I am delivering at Russian state univerty for Humanities and series of lectures "East meets West".
  - iv. make reports about my stay in Jain Vishva Bharati Institute at the department of History of Cultures, department of Russian philosophy, at moscow state university, at the seminar of "Non-violence ethics" Institute of philosophy.
- 1. We may suppose that because of the climate meat is the main food, so hunting and fishing were chief occupation, and killing animals was not considered violence.
- 2. Tolstoy mentions Duckobors, who refused to do military service. Possibly Gandhi was inspired by their technique.
- 3. See Gandhi "Towards new education" (Ahmedabad, 1980) and also a newly published book by Australian scholar "Gandhi Ashrams", 1994.

4. Father Vasily Zenkorsky in his "History of Russian philosophy (Paris, 1948-1954) pointed out that Russian thinkers showed little interest in logics and epistemology but were always concerned with the problem of wholeness of spirit, History of Humanity and Social questions (freedom of seafs, justice for the poor, freedom of speech, etc.)
5. These tales were written after the religious crisis. They were inspired by Tolstoy's efforts of self restrain, especially his unsuccessful efforts to curb his sexual desire.
6. Both great personalities were approached that the idol of non-violence is attainable only by saints. They admitted that really you can't grasp high ideal by stocking out the hand, but once you recognise its beauty it will try to get close to it.
7. See Tatia, N. M. Studies in Jaina philosophy, Banaras, 1951, p. 21
8. See Gandhi on women.
9. Gandhi, M. K., India's Case for Swaraj, 1932, P. 402
10. The message "a hew light on global crisis" by Acharya Tulsi and Acharya Mahaprajya was delivered to the Parliament of world Religions Centennial Celebrations, 28 Aug., 1993

### Literature

1. Tatia N. Studies in Jain philosophy, 1951.
2. Sagarmal Jain "Religions Harmony and fellowship of Faiths : a Jaina perspective—Tulsi prajna, Vol. XX N 1-2 April-September 1994, p 1-17
3. Sampooran Singh, Science, Human Values, Value Education and peace, September 1993, Tulsi prajna.
4. Mahabharata, tranl. from Sanskrit, M-L, 1950.
5. Guseva N. Jainism, Bomby 1971
6. Anuvrat, a code of conduct for building a Healthy Society.
7. Acharya Tulsi, anuvrat, a shield against Immortality, JVB, 1989.
8. Acharya Mahaprajna : Preksha Dhyana Self-awareness by Relaxation, 1989.
9. Acharya Mahaprajna : Preksha Dhyana : Contemplation and auto-suggestion.
10. Muni Mahendra Kumar : Science of Living (Jeevan Vigyan).
11. Zavery J. S. Preksha Dhyana : Human Body, Part I, anatomy and physiology.

12. Zavery J. S. Neuroscience and Karma. The Jain Doctrine of psycho-physical force, 1992.
13. Value education number of Jain Vishva Bharati Institute Research journal, Jan-March, 1993.
14. Sampooran Singh, Non-violence of the week and non-violence of the Brave. p 203-216, Tulsiprajna, Jan-March, 1994.
15. Ramjee Singh, Jain perspective in philosophy and Religion, 1993.
16. Gandhi M. K. an autobiography, or the story of my experiments with truth, Ahmedabad, 1994.
17. The Essential Writings of Mahatma Gandhi, (ed. by Raghavan Iyer) Delhi, Oxford press, 1994.
18. Ramjee Singh, Gandhi and the Twentyfirst century, 1993.
19. Das Gupta, Sugata, philosophical assumptions for Training in Non-violence, Ahmedabad, 1984.
20. Kothari D. S. Science and Ahimsa Culture, Ahmedabad, 1963.
21. Gandhi M. K., Hind Swaraj or Indian Home Rule, Ahmedabad, 1984.
22. Gandhi M. K. Towards new education.
23. Ramjee Singh, The Relevance of Gandhian thought, 1982.
24. Ramjee Singh, Gandhi and the modern world, New Delhi, 1988.
25. Joan V. Bondurat. Conquest of Violence, The Gandhian philosophy of conflict, 1965.
26. Krishnamurti J. Beyond violence.
27. All men are brothers (Life and thought of Mahatma Gandhi as told in his own words), 1992.
28. Krishnamurti J., The wholeness of life.
29. Gandhi's Life in His own words. Compiled by Kripalani, 1994.
30. Krishnamurty, on Education,
31. Krishnamurty, commentaries on Living, 1995.
32. Is. Berlin The Melgehog and the fox (Essay on Tolstoy's view of History).
33. Gandhian perspectives, Vol. VII N 1 Spring, 1994.



## FOUNDATION OF GANDHIAN RELIGIOUS THOUGHT

● Miss Himanshu Bourai

Mahatma Gandhi (1869-1948) was not a systematic academic thinker in the field of metaphysics and Political philosophy. He was an inspired teacher and prophet. Gandhi believed in truth and non-violence. He accepted the creative force of religion in human history. To him, religion signified, belief in the ordered moral governance of the world. He called himself a Hindu, but he was no narrow sectarian like Buddha and Ramkrishna. He was above the bonds of creeds, cults, rituals and ceremonies. He accepted the spiritual and moral essence of Hinduism, which according to him, was the essence of all the great religions of mankind i. e. Judaism, Christianity, Islam and Zoroastrinism.

*Hinduism* :—It signified a relentless search of truth and non-violence. To him true religion, implied an emphasis on the moral values of man as a spirit.

No other country of the world, has the tradition of non-violence, so deep-rooted and continuous as in India. Since the time of the upanishads, Hinduism has always laid stress on the virtue of ahimsa or non-injury to all living beings i e. human or otherwise. The great sage Patanjali's Yogashastra; Gandhi studied in 1903 at Johannesburg which included ahimsa in his *Pancha-yamas*. Gandhiji did elaborate these *yamas* and made them an integral part of the discipline of the *Satyāgrah*.

The Ramayana and the Mahabharata act like the guiding stars for the millions of India. These are apparently stories of wars. But, the aim of these poets, Valmiki and Vyasa, is not mere historical narration. Gandhiji is of the opinion that the epics (though some of the figures deal with historical) are allegories which describe the eternal duel that goes on within man between the forces of light and darkness.

Gandhiji in his well known address to christian missionaries, in Calcutt , on July 28, 1925 did acknowledge his attachment to *Gita* : "Though I admire much in christianity, I am unable to identify myself with orthodox christianity...Hinduism as I know it entirely satisfies my soul, fills my whole being, and I find a solace in the Bhaga-



vadgita and the upanishads that I miss even in the sermon on the mount...when doubt haunts me, when disappointments stare me in the face, and when I see not one ray of light on the horizon, I turn to the Bhagvadgita, and find a verse to comfort me; and I immediately begin to smile in the midst of overwhelming sorrow. My life has been full of external tragedies, and if they have not left any visible and indelible effect on me, I owe it to the teachings of the *bhagvadgīta*'.

The theme of the *Gītā* is self-realization and its means. The second and eighth canto speak of the way to self-realization and the ideal of *anāsktiyoga* or *nishkarma* (action without desire for the result).

**Jainism** :—*Ahimsā* is the leading tenet of the Jainas Philosophy. The Jains believe that that the entire world is literally packed with an infinite number of embodied souls, their bodies being either gross and visible or subtle and invisible. All the elements are animated with souls. The embodiment of the spirit in the material body is the cause of misery. So life means pain even to souls with invisible bodies. To become a *Muktātmā*, a soul needs liberation from the bonds of the body. The individual must complete the process of *nirjarā*, i.e. get rid of *Karmas*. For this, there are three means (tria-atnas), right knowledge (*Samyakjnana*), right insight (*Samyak Darshana*) and right conduct (*Samyak Charitrya*). Right conduct consists in five vows (*vratas*) of which non-killing (*ahimsā*) is the first, the other four being truthfulness, non-stealing, non-possession and celibacy. Monks have to observe these rigidly and laymen according to their capacity.

In no other state of India, is the hold of Jainism (on the life of the people) greater than in Gujarat, where Gandhiji was born and brought up. In childhood, his father, though a vaishnava, frequently associated with jain monks. Gandhiji did not accept the dogmatic approach of jainism, but lay more emphasis on the positive aspect.

**Buddhism** :—Buddhism avoids the extreme view of *ahimsā* taken by jainism. Buddha's teaching, it has been said, begins with purity and ends with love, and is distinguished by one emphasis on the ethical, rather than on the metaphysical elements. His ethics is the practical application of the ethics of the upanishads.

Both Buddhism and Jainism laid stress on *ahimsā* being organically related to truth, non-stealing non-possession and celibacy. But later on, when monasticism degenerated these virtues were disregarded and the tradition of *ahimsā* weakened.

Later religious sects and teachers in India especially the devotional saints who preached the *Bhakti-mārga*, continued to extol com-

passion, truth, charity, humility and other gentle virtues. So the tradition of *ahimsā* persisted down the centuries. No distinctive contribution was, however, made to the evolution of ideal after Asoka. Moreover, in the hands of the teachers of the cult of devotion who drew a distinction between the life of the world and self-realization, non-violence came to be looked upon as in applicable to secular matters

All through this long period the people of India, have been familiar with certain non-violent methods of resisting evil. Dharna (sitting down at the door of the oppressor with the resolve to die unless the wrong is redressed), *Prāyopaveshana* (fasting unto death), *ajnaḥṅga* (civil disobedience), *deshatyaga* (giving up the country) are instances. Before Gandhiji's entry into Indian Politics these non-violent methods had been occasionally resorted to, by Individuals and in rare instances, even by small groups. But, these methods of resistance were usually forms of passive resistance as distinguished from Satyagraha. Bishop Heber, describes non-cooperation by three lakhs of the people of Banaras against the British Government long before Gandhiji's time. Similarly, in 1830, the entire population of Mysore practised non-co-operation against the tyranny of the ruler. Gandhiji tells us in his autobiography; how his father, the Dewan of Rajkot, practised passive resistance successfully.

**Islam** :—Gandhiji regards Islam, as a religion of peace, like christianity, Buddhism and Hinduism. The followers of *Islam*, have been occasionally free with the sword; but that is not the teaching of the sacred *Quran*; but to the environment; in which Islam had emerged. According to Gandhiji, the Chief contribution of Islam, has been the brotherhood of man. But the prophet's was essentially a message of kindness and consideration, peace and love; love not only for human beings, but also for all kinds of creatures. The holy Quran prefers non-violence to violence. The very word 'Islam' means 'Peace' 'safety' and 'salvation'. The common muslim salutation (*Assalamalaikum*) means peace be on you'.

**Christianity** :—'Christianity' is jewish in origin and Lord Jesus said that his doctrine was nothing but the teaching of the old-testament prophets, i e. the law of love. Jesus, however, makes the law revolutionary and transforming by raising it from the level of reciprocity that of non-retaliation and creative purpose. The oft-repeated words of the Jesus "ye have heard how it hath been said by them of old.....but I say unto you", bring out the transforming effect of his teaching.

Lord Jesus and his teachings are an important source of Gandhiji's philosophy of Satyāgraha. Gandhiji once told the Rev. J. J. Doke that it was the New Testament, especially the sermon on the mount, which really awakened him to the rightness and value of *Satyāgraha*.

In this way, Gandhiji renovates the age old philosophy of ahimsa. His great contribution, consists in his researches, in the possibilities of ahimsa, in all walks of life and practical application, to large mass movements. '*Satyāgraha*', he is convinced, is the only way to solve the problems of mankind. "Non-violence is a universal law acting under all circumstances. Disregards of it is the surest way to destruction. But *Satyāgraha* is inseparable from the non-violent outlook on life. To be a real effective satyagrahi, the individual must comprehend the metaphysical and ethical principles in which *Satyāgraha* is rooted. □

#### REFERENCES

1. Andrews, C. F. ; Mahatma Gandhi's Ideals.
2. Dhawan G. ; The Political Philosophy of M. Gandhi.
3. Gandhi M. K. Autobiography.
4. Gregg, richard ; The power of Non-violence.
5. Varma, V. P. ; Philosophic and Sociological  
Foundations of Gandhism.
6. Varma, V. P. ; The Political Philosophy of Gandhi  
and Sarvodaya

Registration Nos. :



Postal Department : NUR-08  
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XX

TULSĪ-PRAJÑĀ

1994-95



Annual Subs. Rs. 60/-

Life Membership Rs. 600/-

प्रकाशक-संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू (भारत)-341306  
में मुद्रित कराके प्रकाशित किंशा गया।